भारत की

विदुषी नारियाँ

संकलनकर्त्री

कृष्णाकुमारी

कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीयातियत्नतः ।

(मनु)

प्रकाशक

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

पुस्तक-प्रकाशक और विक्रेता

लखनऊ

द्वितीयावृत्ति

संवत् १९८२ वि० मूल्य ॥)

सजिल्द ॥=)

प्रकाशक
श्रीछोटेलाल भार्गव बी० एस्-सी०, एल्-एल्० बी०
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ
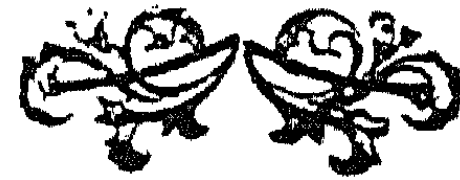
मुद्रक
श्रीमहादेवप्रसाद सेठ
बालकृष्ण-प्रेस
कलकत्ता

वक्तव्य

भारतवर्ष में स्त्रियों के लिये सरस्वती के मंदिर का द्वार कभी बंद नहीं था। वैदिक युग में तो स्त्रियों को आत्म-ज्ञान जैसे उच्च कोटि के गूढ़ विषय की भी शिक्षा देने में किसी प्रकार की बाधा नहीं थी। यह बात नारी-निर्मित ऋचाओं से और मैत्रेयी आदि विदुषियों की गाथाओं से प्रमाणित है। बीच में स्त्री-जाति के लिये वेद-पाठ का निषेध होने के प्रमाण अवश्य मिलते हैं, किंतु अन्य साधारण शिक्षा का द्वार उनके लिये कभी नहीं बंद किया गया। पुराणों में भी अनेक विदुषी महिलाओं के चरित्र मिलते हैं। उसके बाद भारत-समर के उपरांत आर्य-जाति का पतन होने लगा। धीरे-धीरे यह जाति पराधीन और पर-पद-दलित हो चली। एक समय ऐसा भी आया कि स्त्रियों की कौन कहे, पुरुषों की भी शिक्षा का संतोष-जनक प्रबंध नहीं रहा। उसी समय से इस कुसंस्कार ने जड़ पकड़ ली कि स्त्रियों का पढ़ना-लिखना अच्छा नहीं। यहाँ पर यह बात भी याद रखने लायक है कि किसी भी काल में यह बात नहीं थी कि सभी स्त्रियाँ मैत्रेयी और गार्गी के समान उच्च शिक्षित रही हों, या सभी स्त्रियाँ अपढ़ रही हों। हर युग में दोनों तरह की स्त्रियों का अस्तित्व था। हाँ, यह बात दूसरी है कि किसी समय स्त्रियों का अधिक अंश शिक्षित अथवा अपढ़ रहा हो।

अब भी ऐसे पुरुष देखे जाते हैं, जिनकी धारणा है कि भारत में स्त्रियों को शिक्षा देना सदा से वर्जित रहा है, यद्यपि ऐसे पुरुषों की संख्या बहुत ही कम रह गई है। आजकल स्त्री-जाति में जो शिक्षितों की सहधर्मिणी हैं, जिन्होंने सौभाग्य-वश कुछ दिन अच्छी शिक्षा पाकर इतिहास-पुराण आदि का अध्ययन किया है, उन्हें यह विदित है कि उनकी प्राचीन माताएँ शिक्षा के गौरव से संपन्न थीं। परंतु स्त्रियों की अधिकांश संख्या इस समय भी ऐसी है, जिसको अपनी जाति के शिक्षासंबंधी प्राचीन गौरव का कुछ भी हाल नहीं मालूम है। मालूम हो, तो कहाँ से? प्राचीन काल से लेकर अब तक जो विदुषी महिलाएँ भारत में हो चुकी

हैं, उनका जो कुछ वृत्तांत उपलब्ध भी है, वह एकत्र संगृहीत नहीं है, इधर-उधर पुस्तकों में यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है। मैंने इसी अभाव को पूर्ण करने का विचार किया है। मेरे मन में इस विचार का उदय सुप्रतिष्ठित लेखक भारती-पत्रिका के सम्पादक श्रीमणिलाल गंगोपाध्याय की भारतीय विदुषी पुस्तक को पढ़कर ही हुआ था। अतएव मैंने इस पुस्तक में भारतीय विदुषी से बहुत बड़ी सहायता ली है, या यों कहिए कि कुछ जीवनियों को छोड़कर सारी जीवनियां उसी से ली हैं। यही कारण है कि नाम भी वही रक्खा है।

मैं इस पुस्तक को चार भागों में पूर्ण करना चाहती हूँ। अगले भागों में से दूसरे भाग में भारत की वर्तमान सुशिक्षित महिलाओं का परिचय देने का विचार है। तीसरे भाग में विदेशों की प्राचीनशिक्षित महिलाओं के वृत्तांत रहेंगे। चौथे भाग में विदेशों की वर्तमान शिक्षित महिलाओं का परिचय रहेगा। मुझे इधर बहुत-सी अन्य भारतीय प्राचीन महिलाओं का भी पता लगा है। पर पुस्तक तैयार हो चुकने के कारण उनका समावेश न हो सका। अगले संस्करण में देखा जायग।

मुझमें न ज्ञान है, न योग्यता है। केवल अपनी बहनों की कुछ सेवा करने का उत्साह-भर है। इसी से मैंने श्रीमणि बाबू की पुस्तक का आश्रय लिया है, और उस सहायता के लिये उक्त महोदय के प्रति कृतज्ञता प्रकट करती हूँ। मिश्रबंधु-विनोद और सुभाषित-रत्न भांडागार आदि अन्य कई पुस्तकों से भी मैंने सहायता ली है, और लूँगी। उसके लिये उन पुस्तकों के लेखकों और प्रकाशकों के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करती हूँ। यदि इससे एक भी बहन के मन में प्राचीन काल की पूज्य माताओं के समान ज्ञानोपार्जन की अभिलाषा उत्पन्न हुई, तो मैं अपने इस साधारण श्रम को सफल समझूँगी। आगे के भागों की सामग्री भी एकत्र की जा चुकी है। उन्हें शीघ्र ही सेवा में उपस्थित करने की चेष्टा करूँगी।

कृष्णाकुमारी

भारत की विदुषी नारियाँ

उपक्रम

भारत की स्त्रियाँ केवल अतुलनीय सती पतिव्रता होने के कारण ही चिरस्मरणीय नहीं हैं ; वे विद्या के गौरव में भी अद्भुत कीर्ति रखती हैं। इसका परिचय वैदिक युग से लेकर सभी समयों में मिलता है।

इस समय हम सुनते हैं, "स्त्रीशूद्रद्विजबंधूनां त्रयी न श्रुति-गोचरा।" अर्थात् वेद के मन्त्र सुनने का भी स्त्री को अधिकार नहीं है ; किंतु विस्मय की बात है कि ये स्त्रियाँ ही एक समय वेद-मंत्रों की रचना तक करती थीं। उस समय पुरुष के आगे रमणी की स्वाधीनता घटाई नहीं गई थी।

सभ्यता के आदिम युग में, खूनी जानवरों से भरे भयानक जंगलों के बीच, शांति-श्रीसंपन्न पर्णकुटीर के आँगन में, पेड़ों की छाँह में, शुद्ध हृदय महर्षि लोग होम की आग जलाकर घी की आहुतियों के साथ-साथ मेघगंभीर स्वर से जिन मंत्रों का पाठ करते थे, उनके रचनेवाले केवल ऋषि ही नहीं थे ; उनकी बेटी, बहू, बहन और औरतें भी उनकी बगल में बैठकर उनके साथ ही अनेक मंत्र रचती थीं। शांत तपोवन में जैसे ऋषियों के बालक एकाग्र चित्त से गुरू के

चरणों के पास बैठकर ज्ञान प्राप्त करते थे, वैसे ही ऋषियों की कन्याएँ भी भाई के साथ, स्वामी के साथ, बैठकर विद्या की चर्चा करती थीं। वह तपोवन का शिक्षाक्षेत्र केवल बालकों के स्वर से नहीं गूँज उठता था, वहाँ वल्कलधारिणी शांतिमयी बालिकाओं का कोमल कंठ भी सुन पड़ता था। पुरुष लोग उस समय जैसे उच्च शिक्षा और ज्ञान लेकर गुरु के आसन पर बैठते थे, वैसे ही स्त्रियाँ भी उच्च शिक्षा और ज्ञान लेकर प्रति दिन के सांसारिक काम-धंधों में, स्वामी-पुत्र की सेवा में, अपने परिवार और समाज को मनुष्यत्व के श्रेष्ठ आदर्श की राह में आगे बढ़ने में सहायता करती थीं।

प्राचीन काल में जीवन-चरित-रचना की पद्धति नहीं थी, इसी कारण वैदिक युग की किसी भी विदुषी रमणी की सिलसिलेवार जीवनी हम नहीं पाते। केवल उनकी इधर उधर बिखरी हुई रचना से उनका कुछ साधारण परिचय प्राप्त होता है। यह ठीक है कि उस परिचय से तृप्ति नहीं होती, लेकिन गौरव के आनन्द से हृदय पुलकित हो उठता है।

उस सुदूर अतीत काल में भारतीय नारी-समाज की यथार्थ अवस्था क्या थी, यह भी जानने का उपाय नहीं है। किन्तु हम अनुमान कर सकते हैं कि वे देवीस्वरूपिणी भारत-लक्ष्मियाँ अपनी सरलता, सतीत्व और पातिव्रत्य से आश्रमों को कैसा शान्त, सुन्दर और उज्ज्वल बनाए हुए थीं। उनके आदर्श से वन के पशु भी हिंसा-द्वेष भूलकर उन्हीं की तरह निरीह और पवित्र हो उठते थे। उनके तपोवन में भयङ्कर भुजङ्ग घाम से तपकर मोर के पङ्खों

की छाया में सुख से सो रहते थे; हरिणों के बच्चे सिंह के बच्चे के साथ सिंहनी का दूध पीते थे; हाथियों के पाठे खेलते-खेलते सूँड़ से सिंह को खींचते थे।

वैदिक युग में कई नारियों ने विद्वत्ता में अत्यन्त अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, इसीसे उनका नाम आज तक लुप्त नहीं हुआ। न-जाने और कितनी सैकड़ों विदुषियाँ काल की विस्मृति के भीतर लीन हो गई हैं। उस सुदूर अतीत काल में भी जब हम ऐसी विदुषी रमणियों का परिचय पाते हैं, जिनकी कीर्ति का गौरव समय के नीचे दबकर मिटने का नहीं है, तब यह बात स्वीकार करनी ही होगी कि उस समय भारत की रमणियों को सार्वजनीन विद्या का अधिकार था।

वैदिक युग में जिन विदुषी रमणियों का उल्लेख पाया जाता है, उनमें सब से प्रधान विश्ववारा हैं।

१—विश्ववारा

विश्ववारा अत्रि मुनि के गोत्र में पैदा हुई थीं। ऋग्वेदसंहिता के पाँचवें मण्डल के दूसरे अनुवाक का अट्ठाईसवाँ सूक्त इनका रचा हुआ है। इस सूक्त में ६ ऋक् हैं। हर एक ऋक् एक-एक अमूल्य रत्न है। भाषा की मधुरता और भाव में उन्हें अतुलनीय कहना चाहिए। उनका भावार्थ यह है—

"प्रज्वलित अग्नि तेज फैलाकर उषा की तरफ़ प्रदीप्त हैं। देवार्चनानिरत घृत-पात्र-युक्त विश्ववारा उनकी ओर अग्रसर हो रही हैं।"

"हे अग्नि, तुम प्रज्वलित होकर अमृत के ऊपर आधिपत्य फैलाओ, और हव्यदाता का मङ्गल करने के लिये उसके निकट प्रकाशित होओ।"

"हे अग्नि, तुम हम पर प्रसन्न होओ, हमें सौभाग्य दो, हमारे शत्रुओं का दमन करो और हमारे दांपत्य-प्रेम को और गम्भीर या गाढ़ा कर दो।"

"हे दीप्तिशाली, तुम्हारी दीप्ति को मैं पूजती हूँ; तुम यज्ञ में प्रज्वलित रहो।"

"हे उज्ज्वलवर्ण, भक्तगण तुम्हारा आवाहन करते हैं, यज्ञ-क्षेत्र में तुम सब देवतों की उपासना करो।"

"हे भक्तगण, यज्ञहव्यवाहक अग्नि में हवन करो; अग्नि की सेवा करो, और देवतों के पास हव्य पहुँचाने के लिये उनका वरण करो।"

२—इन्द्रमातृका

ऋग्वेद संहिता के दशम मंडल के १५३ सूक्त की पाँच ऋक् इन्द्र-मातृका-प्रणीत हैं। इन्द्र ऋषि के पिता ने बहुत से ब्याह किए थे। उनकी जिन पत्नियों ने एक साथ मिलकर इन ऋचाओं की रचना की थी, वे इन्द्रमातृका के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये कश्यप ऋषि के वीर्य से और अदितिदेवी के गर्भ से पैदा हुई थीं। इनमें से एक का नाम देवजामि था। सौतें परस्पर ईर्षा-द्वेष भूलकर एकमन होकर एकसाथ मन्त्र-रचना कर रही हैं; यह सौतों के मिलन का दृश्य हमारी दृष्टि में बहुत ही सुन्दर और मधुर है।

इन्द्रमातृका इन्द्रदेव के उद्देश से कहती हैं—

"हे इन्द्र, जिस तेज से शत्रु जीता जाता है, वह तेज तुममें है, इसीसे हम तुम्हारी पूजा करती हैं। तुमने वृत्र को मारा है, आकाश को विस्तृत किया है, अपनी क्षमता के बल से स्वर्ग को समुन्नत कर दिया है। सूर्य तुम्हारे सहचर हैं, तुम उन्हें बाहुपाश से बाँधे हुए हो। इसी कारण हम तुम्हारी पूजा करती हैं।"

३—वाक्

अनृण ऋषि की कन्या वाक् ने ऋग्वेद संहिता के दशम मण्डल के १२५ सूक्त के आठ मन्त्र रचे हैं। ये मन्त्र देवीसूक्त के नाम से प्रचलित हैं। हमारे देश में जो दुर्गापाठ किया जाता है, उसके पहले इस देवीसूक्त के पाठ की विधि है। मार्कण्डेय पुराण का चण्डी-

माहात्म्यप्रकरण वाक्-प्रणीत इन्हीं आठ मन्त्रों का भाव लेकर विस्तृत रूप से लिखा गया है। चण्डी-माहात्म्य के साथ-साथ वाक्देवी का माहात्म्य सारे भारतवर्ष में आज तक गाया जाता है।

शङ्कराचार्य ने जगत् में अद्वैतवाद के प्रवर्तक की प्रसिद्धि पाई है; लेकिन उनसे बहुत पहले वाक्देवी उस अद्वैतवाद के मूल-सूत्र का प्रचार कर गई हैं। जिस मत के ऊपर निर्भर करके शङ्कराचार्य ने विश्वव्यापी बौद्ध धर्म के चंगुल से ब्राह्मण्य धर्म का उद्धार किया था, वह मत एकदम उनका निजस्व नहीं कहा जा सकता; उसकी सृष्टि करनेवाली वाक्देवी ही हैं। शङ्कराचार्य के महत्व के लिये उन्हें हम जो गौरव दिया करते हैं, उसका अधिकांश वाक्देवी को ही मिलना चाहिए।

वाक्देवी अपने रचित मन्त्रों में कहती हैं—

"मैं रुद्र, वसु आदि इन सबके आत्मा के स्वरूप में विचरती हूँ। मैं ही उभय मित्र और वरुण, इन्द्र और अग्नि तथा अश्विनी-कुमारों को धारण करती हूँ। मैं सब जगत् की ईश्वरी हूँ; मुझ में भूरि-भूरि प्राणी प्रविष्ट हैं। जीव जो देखता है, प्राण धारण करता है, अन्न का आहार करता है, सो सब मेरे ही द्वारा सम्पादित होता है। मेरी ही सेवा देवता और मनुष्य करते हैं। मैं ही सब कामना किया करती हूँ। मैं ही किसी को स्रष्टा, ऋषि या बुद्धि-शाली कर सकती हूँ। स्तोत्रद्वेषी और हिंसक के वध के लिये मैंने रुद्र के धनुष पर डोरी चढ़ाई थी। मैंने ही भक्तों के उपकारार्थ शत्रु-पक्ष के साथ संग्राम किया है। मैं स्वर्ग में और पृथ्वी में अनुप्रविष्ट हूँ। इस भूलोक के

ऊपर स्थित आकाश को मैं उत्पन्न करती हूँ। वायु जैसे अपनी इच्छा से चलता है, वैसे ही संपूर्ण भुवन को उत्पन्न करनेवाली मैं स्वयं अपनी इच्छा के अनुसार सब काम करती हूँ। मेरे अपने माहात्म्य के बल से सब उत्पन्न हुआ है।"

४—अपाला

अपाला भी विश्ववारा की तरह अत्रि के वंश में पैदा हुई थीं। इनका जीवन बहुत ही दुःखमय था। यह त्वक्‌रोग से पीड़ित थीं, इसीसे स्वामी ने इन्हें त्याग दिया। स्वामी की त्यागी हुई यह नारी जीवन-भर पिता के तपोवन में रहकर ईश्वर की आराधना करती रहीं।

लिखा है, अपाला के पिता के खेत वैसे उपजाऊ नहीं थे। अपाला ने इन्द्रदेव की आराधना करके वरदान प्राप्त किया, और इस तरह पिता के ऊसर खेतों को शस्य-पूर्ण बना दिया। यह बहुत ही पितृभक्ता थीं। ऋग्वेद के आठवें मण्डल के ९१ सूक्त की आठ ऋचा अपाला ने रची हैं।

५—लोपामुद्रा

विदर्भराज की कन्या लोपामुद्रा अगस्त्य मुनि को व्याही थीं। अगस्त्य मुनि ने पितरों की आज्ञा से वंश-रक्षा के लिये लोपामुद्रा के साथ ब्याह किया था।

विंध्याचल जब बढ़कर आकाश को छूने लगा और सूर्यदेव के रथ की राह रोककर उन्हें अचल करने को उद्यत हुआ, तब उस समय देवतों की प्रार्थना से अगस्त्य ने एक कौशल के द्वारा विंध्याचल को नवा दिया। देवतों के अनुरोध से मुनि-श्रेष्ठ अगस्त्य एक दिन विंध्याचल के पास गए। विंध्याचल ने अतिथि ऋषि को देखकर प्रणाम करने के लिये अपना उन्नत मस्तक उनके चरणों में झुका दिया। अगस्त्य ने आशीर्वाद देकर कहा—वत्स, जब तक मैं लौटकर न आऊँ तब तक तुम सिर न उठाना।

अगस्त्य ऋषि गए सो गए, फिर नहीं लौटे। विंध्याचल भी ऋषि की बात टालकर सिर नहीं उठा सका। तभी से हमारे देश में अगस्त्य-यात्रा की कहावत चल गई है। महीने के पहले दिन, यानी पड़वा को, कहीं जाने से वह यात्रा अगस्त्य-यात्रा कहलाती है। उस दिन यात्रा करने से अगस्त्य की तरह फिर कोई नहीं लौटता, लोगों का ऐसा ही विश्वास है।

लोपामुद्रा का चरित्र बड़ा सुन्दर है। जैसे वह एक तरफ़ विद्या के गौरव से महीयसी हैं, वैसे ही दूसरी तरफ़ पतिव्रत-धर्म का अद्भुत आदर्श हैं। वह छाया की तरह स्वामी की अनुगामिनी थीं। स्वामी भोजन करते तो वह भी आहार करतीं, स्वामी सो जाते तब वह शयन करतीं, और स्वामी के जगने के पहले ही उठ बैठती थीं। उन्होंने केवल पति को ही ज्ञान और ध्यान का विषय बना लिया था। अगस्त्य अगर किसी कारण से उन पर नाराज़ होते थे, तो लोपामुद्रा उस पर असन्तोष नहीं प्रकट करती थीं। स्वामी

के मनोरञ्जन के लिये वह सदा उद्योग किया करती थीं। स्वामी की आज्ञा के बिना वह कोई भी काम नहीं करती थीं।

उनके समान सुनिपुण सुगृहिणी भी शायद भारत में और कोई न थी। देवता, अतिथि और गो-सेवा से वह कभी विमुख न होती थीं।

लोपामुद्रा ने ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १७९ सूक्त की पहली और दूसरी ऋचा का संकलन किया है। इस ऋचा में लोपामुद्रा स्वामी से कहती हैं—"हे प्रभु, सारा जीवन आपकी सेवा में बिताकर अब मैं थक गई हूँ। अब मैं वृद्धा हूँ। मेरा शरीर जरा से जीर्ण हो गया है। तब भी आपकी सेवा ही मेरे जीवन का आनन्द है और वही मेरी परम तपस्या है। आप ही मेरी एकमात्र गति हैं। हे प्रभु, मेरे ऊपर आपका अनुग्रह सदा अटल रहे।"

६—अदिति

ऋग्वेद संहिता के चौथे मण्डल के अठारहवें सूक्त की ५, ६ और ७ ऋचा अदिति की रचनाएँ हैं। अदिति इन्द्रदेव की माता कह-कर प्रसिद्ध हैं। वामदेव ऋषि ने एक समय अपनी माता को क्लेश दिया था। पुत्र के द्वारा सताई गई अदिति भी इन्द्रदेव की शरण में गईं। लिखा है, अदिति देवी ने कई मन्त्र रचकर वामदेव की अवाध्यता का दमन किया था।

अदिति की रची ऋचाएँ कविता की दृष्टि से भी श्रेष्ठ हैं। वह

एक ऋचामें कहती हैं—"जल से भरी नदियाँ अ-ल-ला यह अस्पष्ट हर्षसूचक शब्द करती हुई जा रही हैं। हे ऋषि, तुम उनसे पूछो कि वे क्या कहती हैं।"

पुराण में कहा है कि अदिति भगवान् कश्यप की पत्नी और इन्द्रादि देवगण की माता हैं। इनकी सौत दिति के लड़के-बाले दैत्य-गण किसी समय अत्यन्त प्रबल हो उठे थे। उनमें प्रह्लाद के पोते विरोचन के पुत्र राजा बलि ने विश्वजित् यज्ञ करके स्वर्ग-राज्य पर अधिकार कर लिया। देवता स्वर्ग से निकाल दिए गए, और उनकी बड़ी दुर्दशा हुई। इससे देव-माता अदिति अत्यन्त दुःखित होकर उसके प्रतिकार की इच्छा से स्वामी की शरण में गईं। भगवान् कश्यप ने उनसे कठिन पयोव्रत की दीक्षा लेकर विष्णु की आराधना करने का उपदेश दिया। उसके अनुसार अदिति ने एकाग्रचित्त हो कर व्रत का उद्यापन किया। विष्णु ने प्रसन्न होकर उनके गर्भ से जन्म लिया, और उनका नाम वामन पड़ा। यज्ञोपवीत के समय वामनरूपी भगवान् 'भिक्षा' माँगने के लिए राजा बलि के पास गए। बलि ने उनकी प्रार्थना जाननी चाही। वामनजी ने सिर्फ़ तीन पग पृथ्वी माँगी। जब दाता ने उनकी यह मामूली प्रार्थना पूरी करने की प्रतिज्ञा कर ली, तब भगवान् अपने बौने शरीर को विराट्रूप से बढ़ाने लगे। उन्होंने एक पग में पृथ्वी और दूसरे पग में स्वर्ग नाप लिया। उनके शरीर में चन्द्र-सूर्य-तारागण सहित आकाश आ गया। तीसरे पग के लिये कोई भी जगह नहीं बची! राजा बलि उस समय मुश्किल में पड़ गए। स्वर्ग और मनुष्यलोक सब वामनजी ने नाप

लिया। उन्होंने तीन पग पृथ्वी देने की प्रतिज्ञा की है, किन्तु केवल दो पग का स्थान दिया है, अभी तीसरा चरण बाक़ी है। अब तो और कुछ अवशिष्ट नहीं है, तीसरा पग रखने का स्थान कहाँ देंगे? उन्होंने समझ लिया, भगवान् छलना करते हैं। अपना सिर सामने झुकाकर बलि ने कहा—स्वामी, मेरा मस्तक और पीठ बाक़ी है। उस पर पैर रखकर नाप लीजिए।

बलि ने स्वर्ग, पृथ्वी सब दान कर दिया। इन दोनों स्थानों में रहने का उन्हें अधिकार नहीं। उन्हें पाताल के भीतर जाना पड़ा। देवतों को स्वर्ग का राज्य अनायास मिल गया।

७—यमी

यमी ने ऋग्वेद संहिता के १० मण्डल के १० सूक्त की १, ३, ५, ७ और ११ ऋचाएँ और १५४ सूक्त की पाँच ऋचाएँ रची हैं। हम लोगों की धारणा है कि यमराज भीषण हैं, भयङ्कर हैं; किन्तु यमी ने अपनी ऋचाओं में यमराज को केवल पापियों को दण्ड देनेवाला कहकर घोषित नहीं किया, बल्कि कहा है कि यमराज स्वर्ग-सुख के भी दाता हैं। १५४ सूक्त की ऋचाओं का भाव यह है—

"किसी-किसी प्रेत के लिये सोमरस क्षरित होता है; कोई-कोई घृत सेवन करते हैं। हे प्रेत, जिन प्रेतों के लिये मधुर स्रोत बहते रहते हैं, तुम उनके निकट जाओ।"

"जो तपोबल से दुर्द्धर्ष हुए हैं, जो तपस्या के बल से स्वर्ग गए हैं, जिन्होंने अति कठोर तपस्या की है, हे प्रेत, तुम उनके निकट गमन करो।"

"जो रण-भूमि में युद्ध करते हैं, जिन वीरों ने शरीर की माया-ममता त्याग कर दी है, या जो सहस्र-परिमित दक्षिणा दान करते हैं, हे प्रेत, तुम उनके निकट गमन करो।"

"जो सब प्राचीन व्यक्ति पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करके पुण्य-वान् हुए हैं, जिन्होंने पुण्य का स्रोत बढ़ाया है, जिन्होंने तपस्या की है, हे यम, यह प्रेत उनके निकट गमन करे।"

"जिन बुद्धिमान् व्यक्तियों ने हज़ारों तरह के सत्कर्मों की पद्धति दिखलाई है, जो सूर्य की रक्षा करते हैं, जिन्होंने तप से उत्पन्न होकर तप ही किया है, हे यम, यह प्रेत उन सब ऋषियों के निकट गमन करे।"

८—शश्वती

यह अंगिरा ऋषि की कन्या और आसङ्ग नाम के राजा की पत्नी थीं। इन्होंने ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के पहले सूक्त की ३४ ऋचाएँ रची हैं।

शश्वती के स्वामी आसङ्ग एक समय अङ्ग-हीन हो गए। शश्वती ने कठोर तप करके स्वामी को आरोग्य किया। अपने रचे हुए उक्त मन्त्र में उन्होंने स्वामी की स्तुति की है।

१-उर्वशी

उर्वशी अप्सरा की कन्या हैं। इन्होंने ऋग्वेद संहिता के दसवें मण्डल के ६५ सूक्त की सात ऋचाएँ रची हैं। इस सूक्त में उर्वशी और पुरूरवा के उपाख्यान का वर्णन है। पुरूरवा और उर्वशी अप्सरा जब एक साथ एक जगह कुछ समय तक रहने के बाद एक दूसरे से अलग हुए हैं, उसी समय की बातें इस उपाख्यान में वर्णन की गई हैं।

पुरूरवा कहते हैं—"पत्नी, तुम बड़ी ही निष्ठुर हो! इतनी जल्दी मुझे छोड़कर न जाना। अपने साथ प्रेमालाप करने का कुछ अवसर मुझको दो। अगर इस समय मैं अपने मन की बात न कह सका तो सदा मुझे पछतावा रहेगा।"

उर्वशी उत्तर देती है—"पुरूरवा, तुम अपने घरको लौट जाओ। मैं उषा की तरह तुम्हारे पास आई थी। वायु को जैसे कोई पकड़ नहीं सकता, वैसे ही तुम भी मुझे पकड़कर रख नहीं सकोगे। मेरे साथ प्रेमालाप करके क्या होगा?"

पुरूरवा—"तुम्हारे विरह में मेरे तरकस से बाण नहीं निकलते, मैं युद्ध जय करके गउएँ नहीं ला सकता, मेरे राज्य में वीर नहीं हैं, राज्य की शोभा चली गई है, मेरी सेना के सिपाही अब पहले की तरह हुंकार के साथ युद्ध के लिये तैयार नहीं होते।"

पुरूरवा के असंख्य कातर वचन सुनकर भी जब उर्वशी ने उन पर ध्यान नहीं दिया, तब पुरूरवा ने कहा—"तो पुरूरवा का शरीर

आज गिर पड़े, वह अब कभी न उठे, वह बहुत दूर-दूर हो जाय, वह निर्ऋति (मृत्यु) की गोद में शयन करे, बलवान् वृक (भेड़िये) उसे भक्षण कर लें।"

उर्वशी—"हे पुरूरवा, इस तरह मृत्यु की कामना मत करो, उच्छिन्न न जाओ (अर्थात् अपना सर्वनाश मत करो) दुर्दान्त वृकगण तुम्हें भक्षण न करें। रमणी का प्रणय स्थायी नहीं होता। नारी का हृदय और वृक का हृदय—दोनों एक प्रकार के होते हैं। हे इलातनय पुरूरवा, सब देवता तुमको आशीर्वाद देते हैं—तुम मृत्यु को जीतनेवाले (अर्थात् अमर) बनो।"

पुरूरवा और उर्वशी के सम्बन्ध में पुराणों में भी वर्णन है॥ स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी ब्रह्मशाप से मनुष्य-योनि में उत्पन्न हुई, और यथासमय पुरूरवा की पत्नी होना उन्होंने स्वीकार कर लिया। पुरूरवा चन्द्रमा के पुत्र बुध के बेटे थे। यह जैसे सुन्दर और प्रिय दर्शन थे, वैसे ही विद्वान् और धार्मिक भी थे। उस समय पृथ्वी पर उनके समान क्षमाशील सत्यनिष्ठ मनुष्य दूसरा नहीं था। वेद-विहित क्रियाकांड का अनुष्ठान करके उन्होंने बहुत यश प्राप्त किया। पुरूरवा के रूप और गुणों पर रीझकर उर्वशी ने उन्हें अपना पति स्वीकार किया। किन्तु विवाह के समय पुरूरवा को प्रतिज्ञा करनी पड़ी, कि वह उर्वशी के सामने कभी एकदम नंगे नहीं उपस्थित होंगे, आत्मसंयम के बारे में भी उन्हें विशेष कठोरता धारण करनी पड़ेगी, उनकी पत्नी के पलँग के पास सदा दो मेष (भेड़) बँधे रहेंगे (उनके न रहने पर उर्वशी चली जायंगी), और दिन में एक

वार केवल घी पीकर राजा को रहना पड़ेगा। इन नियमों में कुछ भी व्यतिक्रम पड़ने से उर्वशी उन्हें छोड़कर गंधर्वलोक को चली जायँगी।

महामति पुरूरवा इन सब कठोर नियमों का पालन करके ५९ वर्ष तक उस विदुषी पत्नी के साथ अत्यंत संयम से रहे। इधर गंधर्वराज विश्वावसु ने उर्वशी को शाप से छुड़ाने का दृढ़ संकल्प किया। क्योंकि उर्वशी के बिना गंधर्वलोक सूना हो रहा था। एक दिन रात के समय विश्वावसु आकर उर्वशी की शय्या के पास से उन दोनों मेषों को खोलकर ले चले। उन मेषों का शब्द सुनकर उर्वशी जग पड़ीं। उन्होंने पुरूरवा को कायर इत्यादि कटु वचन कहकर उत्तेजित किया, और पुरूरवा नग्नावस्था में ही पलँग से उठकर मेषों को छुड़ाने दौड़े। कारण, वस्त्र-धारण करने में समय लगता और फिर गंधर्व का पीछा करना कठिन हो जाता। इसी समय गंधर्वगण ने बिजली का प्रकाश कर दिया। उस प्रकाश में उर्वशी ने स्वामी को नंगे देख पाया। वह उसी घड़ी प्रतिज्ञा-भंग होने से वादे के माफ़िक़ गंधर्वलोक को चली गईं। पुरूरवा पत्नीके शोक से अत्यंत विह्वल होकर बहुत-से स्थानों में उर्वशी को खोजते रहे। अन्त को कुरुक्षेत्र के प्लक्ष तीर्थ में दोनों की भेंट हुई। उर्वशी ने पुरूरवा को अपने विरह में मृतप्राय देखकर उनसे कहा कि तुम प्रयाग तीर्थ में जाकर यज्ञ करो और गन्धर्वोंको सन्तुष्ट करके मुझे प्राप्त करने का प्रयत्न करो। उर्वशी ने यह भी कहा कि वर्ष-भर के बाद एक दिन मैं तुमसे मिलूँगी। पुरूरवा ने उर्वशी की सलाह के

माफ़िक़ यज्ञ किया और उसके फल से उन्हें गंधर्वलोक में जाने का अधिकार प्राप्त हुआ।

यह भी लिखा है कि पुरूरवा ने प्रयाग तीर्थ में प्रतिष्ठान पुरी बसाकर राज्य स्थापित किया था और उर्वशी के गर्भ से उनके परम प्रतापी छः पुत्र पैदा हुए थे।

१०—घोषा

यह कक्षीवान् की कन्या थीं। ऋग्वेद के दशम मण्डल के ३९ और ४० सूक्त इन्हींके रचे हैं। इन सूक्तों में ब्रह्मवादिनी घोषा अश्विनीकुमारों को संबोधन करके कहती हैं—

"हे दोनों अश्विनीकुमार, आपका जो विश्व-भर में विचरनेवाला रथ है, उसका नाम लेकर हम प्रतिदिन परम आनन्द पाते हैं। आप हमें सुमधुर वाक्य-विन्यास की प्रवृत्ति दान करें, हम उसीके द्वारा आपकी वंदना करें। आप लोगों के अनुग्रह से हमारे शुभ कर्म सम्पन्न हों—आप हमें सुबुद्धि दें। यज्ञ में सोमरस जैसे आनन्द दान करता है, हम उसी तरह लोगोंके लिये आनन्ददायक हों।"

"एक क्वाँरी कन्या पिता के घर में बूढ़ी हो रही थी; आप लोगों ने ही अनुग्रह करके उसके लिये वर ला दिया। आप लोग जरा-जीर्ण, पंगु, रोगी अंधे आदि के लिये एकमात्र अनन्य आश्रय स्वरूप हैं। आप लोगों ने ही जरा-जर्जर च्यवन ऋषि को फिर से जवान कर दिया है; तुग्र-तनय को जल के ऊपर वहन करके तीर में उतार

दिया है। इसी कारण मैं आपका आश्रय माँगती हूं। मैं आपको प्रणाम करती हूँ, आवाहन करती हूँ। आप मेरे आवाहन को सुनिए। पिता जैसे पुत्र को शिक्षा देता है, वैसे ही आप लोग मुझे शिक्षा दें। मैं ज्ञान और बुद्धि से हीन हूँ। ऐसा कीजिए, जिसमें कभी मेरी बुद्धि बुरी न हो।"

'शुंधुव नाम की पुरुमित्र राजा की कन्या को रथ पर बिठाकर आप लोगों ने विमद् के साथ उसका ब्याह कर दिया। वध्रीमती जब प्रसव-वेद्नासे पीड़ित हुई, तब आपने ही उसकी वह यंत्रणा दूर कर दी। जरा-जीर्ण कलि को आपने नव-यौवन दान किया। विपल्ला नाम की नारी, जिसके दोनों पैर कटे थे, उसको आपने ही चलने की शक्ति दी। शत्रुओं ने जब रेभक को मृतप्राय करके एक पर्वत की कन्द्‌रा में डाल दिया था, तब आपने ही उन्हें प्राण-दान दिया। अत्रि मुनि जब अग्निकुण्ड में फेंक दिए गए थे, तब आपने ही अग्नि का तेज हर लिया था। हे दोनों अश्विनीकुमार, आपका नाम लेने से ही महा पुण्य होता है। आप लोग जिस राह से जाते हैं, उस राह में चारों ओर सबके कंठ से आपकी वंद्‌ना का गान सुन पड़ता है। ऋभु-नामक देवगण ने आपके लिये जो रथ बनाया है, जिस रथ के आकाशमार्ग में उठने पर आकाश-कन्या उषादेवी का आविर्भाव होता है और सूर्यदेव से दिन और रातें उत्पन्न होती हैं, उस मन से भी बढ़कर वेगशाली रथ पर सवार होकर आप लोग आवें। उस रथ पर चढ़कर पर्वत की ओर आप गमन करें— शयु नामक व्यक्ति की बूढ़ी गऊ को फिर दुग्धवती कर दें।"

"भृगु-संतान जैसे रथ बनाते हैं, मैं भी उसी तरह आपके लिये यह मंत्र रचती हूँ। विवाह के समय पिता जैसे कन्या को अलंकारों से भूषित करता है, वैसे ही मैं भी इन मंत्रों को आपकी प्रशंसा से अलंकृत करती हूँ। हे अन्न-धन-संपन्न दोनों अश्विनी-कुमार, आप लोग मुझपर कृपा-वृष्टि करें—मेरे मन की अभिलाषा पूर्ण हो। आप लोग मेरे कल्याण के विधाता हैं, अतएव मेरे रक्षक हों। आप लोग यह आशीर्वाद दें कि मैं पति के घर जाकर पति को प्यारी हो सकूँ।"

११–सूर्या

ऋग्वेद के दसवें मण्डल का ८५ सूक्त सूर्या का रचा हुआ है? इसकी ऋचाएँ नव-विवाहित वर-वधू की प्रार्थना और आशीर्वाद से परिपूर्ण हैं। उनका भावार्थ यह है—

"सूर्याके व्याह के समय भी नैभी नामकी ऋचाएँ सूर्य की सहचरी थीं। नाराशंसी नाम की ऋचाएँ उनकी दासी थीं। उनका मनोहर वस्त्र साम-गान के द्वारा पवित्र और उज्ज्वल था। उनका धर्ममय जीवन ही विवाह का यौतुक (दहेज) था। सुप्रशस्त मन ही उनके पति के घर जाने की सवारी थी। अनंत आकाश ऊपर का चँदोवा बना था।"

"हमारे मित्रगण व्याह की पात्री (कन्या) खोजने के लिये जिस राह में जाते हैं, वह राह निरापद हो। हे इंद्र आदि देवगण, पति और पत्नी का मिलन अक्षय हो।"

"इस कन्यारूप पवित्र पुष्प को पितृकुल के वृक्ष से तोड़कर पति के हाथ में पहना दिया। हे इंद्र, यह कन्या पति के घर में सौभाग्यवती हो।"

"हे कन्या, पूषा (देवता) तुम्हारा हाथ पकड़कर तुम को पिता के घर से पति के घर तक बिना किसी विघ्न के ले जायँ। दोनों अश्विनीकुमार तुमको अपने रथ पर चढ़ाकर पिता के घर से पति के घर ले जायँ। तुम पति के घर में प्रशंसा पाओ और घर की मालकिन बनो।"

"जो लोग इन दंपति (पति-पत्नी) के निकट शत्रुता के लिये आवें वे विनष्ट हों। ये दंपति पुण्य के द्वारा विपत्ति को दूर करें; इनके निकट से शत्रुगण भाग खड़े हों।"

"यह नव-विवाहिता वधू अति सुलक्षणा है। तुम सब मिलकर आओ, इस वधू को देखो। यह वधू सौभाग्यवती हो, स्वामी को प्रिय हो—यह आशीर्वाद देकर तुम घर को लौटो।"

"हे दंपति, तुम दोनों सदा एकत्र रहना—तुम्हारा मिलन कभी खंडित न हो।"

"प्रजापति के आशीर्वाद से हमारे पुत्र-पौत्र आदि उत्पन्न हों। अर्यमा (देवता) हमें वृद्धावस्था तक सम्मिलित कर रक्खें। हे वधू, तुम कल्याणभागिनी होकर चिरकाल तक पति के घर में रहो। दास-दासी पशु आदि के साथ दयापूर्ण व्यवहार रखना। उन्हें पुत्र के समान मानकर उनका पालन करना।"

"हे वधू, तुम्हारे दोनों नेत्र दोष-शून्य हों। तुम पति के लिये

कल्याणदायिनी बनो। तुम्हारा मन सदा प्रफुल्ल रहे। तुम्हारा शरीर लावण्यमय बना रहे। देवतों पर तुम्हारी अटल भक्ति बनी रहे।"

"इन्द्रादि देवगण पति और पत्नी के हृदय को एक कर दें; वायु, धाता और वाक्देवी उन्हें अच्छी तरह सम्मिलित कर दें; यही हमारी प्रार्थना है।"

नव-विवाहित वर-वधू की यह आशीर्वाद-भिक्षा और उनके हृदय की प्रार्थना उस किसी बहुत प्राचीन युग में पहली बार ध्वनित हुई थी; इस समय भी हर तरफ़ हर दिन उसी की प्रतिध्वनि उठकर सुनाई पड़ती है।

१२--१३---जुहू, इंद्राणी, शची, गोधा, श्रद्धा, रोमशा इत्यादि।

ऊपर कही गई रमणियों के अलावा ऋग्वेद में और भी अनेक विदुषी वेद-वादिनी स्त्रियों का उल्लेख पाया जाता है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल का १०६ सूक्त बृहस्पति की भार्या जुहू नाम की आर्य-महिला की रचना है। इस सूक्त में सात मंत्र हैं।

ऋग्वेद के दशम मण्डल का १४५ सूक्त इंद्राणी का रचा हुआ है। उसमें ६ मंत्र हैं।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल का १५६ सूक्त शची की रचना है। इसमें भी ६ मंत्र हैं।

गोधा नाम की आर्य-महिला ने ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १३४ सूक्त का सातवाँ मंत्र रचा है।

श्रद्धा नाम की ब्रह्म-वादिनी रमणी ने ऋग्वेद-संहिता के पाँच मंत्र रचे हैं। इन मंत्रों में यज्ञ-दान आदि कार्यों की महिमा गाई गई है।

रोमशा भावयव्य राजा की रानी थीं। ऋग्वेद-संहिता के प्रथम मण्डल के १२६ सूक्त की सातवीं ऋचा इन्होंने रची है। इनके पुत्र का नाम स्वनय था। स्वनय एक प्रसिद्ध दानी थे।

प्राचीन युग में भारत में हिन्दू सभ्यता की उन्नति बड़े वेग से हो रही थी। जिस समय-प्रवाह के प्रारम्भ में हमने रमणी विदुषी देखी हैं, वह प्रवाह जिस समय उच्छ्वास और तरंगों से परिपूर्ण था, उस समय भी वे ही रमणियाँ ज्ञान और बुद्धि के गौरव से भूषित होकर हमारे सामने उपस्थित होती हैं। भारतवर्ष में हिन्दू लोग जब दार्शनिक पण्डित हो रहे थे, उस युग में भी हम कई ऐसी रमणियों का पता पाते हैं, जो विद्या के गौरव में पुरुषों के बराबर थीं।

शक्तिशाली पुरुष यहाँ भी अबला स्त्री-जाति को शिक्षा के संबंध में हराकर उनसे ऊँचा आसन नहीं ले सके। स्त्रियाँ भी समान आग्रह, समान उत्साह और समान भाव से पुरुषों के साथ-ही-साथ उस ओर आगे बढ़ रही थीं। इस युग में हम मैत्रेयी, गार्गी आदि कई विश्व-विख्यात रमणियों का परिचय पाते हैं।

१४---मैत्रेयी

पहले मैत्रेयी का ही हाल लिखेंगे। मैत्रेयी एक अत्यन्त प्रसिद्ध विदुषी थीं। बृहदारण्यक उपनिषद् में इनकी विद्वत्ता का हाल लिखा है। यह मित्र ऋषि की कन्या थीं। मित्र भी एक प्रसिद्ध पण्डित थे। उन्होंने अपनी कन्या को बिल्कुल बचपन से ही शिक्षित बना रक्खा था। युवावस्था में महायोगी याज्ञवल्क्य के साथ इनका ब्याह हुआ।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अनेक पृष्ठ मैत्रेयी के ज्ञान की ज्योति से प्रकाशमान हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य के साथ एक-एक दर्शन शास्त्र के जटिल, दुरूह तत्त्व को लेकर मैत्रेयी ने जिस तरह तर्क किए हैं, उन्हें पढ़ने से वास्तव में बड़ा ही विस्मय होता है।

महर्षि याज्ञवल्क्य जिस समय गृहस्थाश्रम त्यागकर वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करनेका उद्योग कर रहे थे, उस समय मैत्रेयी के साथ उनका तर्क (बहस) हुआ। याज्ञवल्क्य के दो स्त्रियाँ थीं। उनकी जो कुछ सम्पत्ति थी, उसे बाँट लेने के लिये उन्होंने अपनी दोनों स्त्रियों से कहा। इसी बात से तर्क की उत्पत्ति हुई। तर्क में मैत्रेयी ने ऐसा सुन्दर ढङ्ग और युक्तियों से विषय-संपत्ति का असार होना प्रकट किया है कि उसे पढ़ते समय आजकल के सभ्य जगत् के श्रेष्ठ दार्शनिक पण्डित को भी आदर के साथ सिर झुकाना पड़ेगा। मैत्रेयी का यह अमूल्य वाक्य शास्त्र में अमर है कि "यह धरणी अगर धन से परिपूर्ण होकर मेरे हस्तगत हो जाय, तो क्या मैं उससे निर्वाण-पद (मोक्ष) पा सकूं गी?"

मैत्रेयी के इस प्रश्न के उत्तर में जब याज्ञवल्क्य ने कहा—"नहीं, यह न होगा", तब मैत्रेयी कह उठीं—

"येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् ।"

अर्थात् जिससे मैं अमृत (अमर) न हो सकूँगी, उसे लेकर क्या करूँ ?

यह कैसी अमूल्य गंभीर अमृतमयी वाणी नारी के मुख से निकली थी ! उसके बाद उस ब्रह्म-वादिनी विदुषी महिला ने हाथ जोड़कर ऊर्ध्वमुख होकर यह श्रेष्ठ प्रार्थना उच्चारण की—

"असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्मामृतं गमय, आविरावीर्म एधि,
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥"

अर्थात् हे सत्यरूप, तुम मुझे सब असत्यों से छुटकारा देकर अपने सत्यस्वरूप में पहुँचाओ । हे ज्ञानमय, मोह के अंधकार से मुझको निकालकर ज्ञान के प्रकाश में ले जाओ । हे आनंदरूप, मृत्यु से निकालकर मुझे अमृत के पास पहुँचाओ । हे स्वयंप्रकाश, तुम मेरे निकट प्रकाशित होओ । हे रुद्ररूप, तुम्हारा जो प्रसन्न कल्याणमय मुख है, उसके द्वारा सब जगह सब समय मेरी रक्षा करो !

इस मनुष्य-हृदय की पुरातन व्याकुल प्रार्थना ने रमणी के कंठ से निकलकर अत्यन्त रमणीयता प्राप्त की है ! इस वाणी से भारत धन्य हो गया और आज भी यह वाणी असंख्य मनुष्यों को शांति-दान करती है !

१५—गार्गी

मैत्रेयी से भी बढ़कर विदुषी और एक रमणी थीं, उनका नाम था गार्गी। वह मैत्रेयी की ही आत्मीया थीं। गार्गी के पिता का नाम वचक्नु था।

किसी जटिल प्रश्न की मीमांसा करने की आवश्यकता होने पर प्रसिद्ध दार्शनिक राजर्षि जनक सुप्रसिद्ध पंडितों को बुलाकर समय-समय पर सभा करते थे। उसी सभा में उस प्रश्न की आलोचना होती थी। उस आलोचना की सभा में केवल पुरुषों के लिए ही स्थान न था, अनेक स्त्री-रत्न विदुषियाँ भी आती थीं और प्रश्नोत्तर में भाग लेती थीं। पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी बराबर तर्क करती थीं।

एक समय राजर्षि ने एक यज्ञ किया। उस यज्ञ में देने के लिये उन्होंने एक सहस्र गउएँ बाँध दी थीं। हर एक गऊ के सींगों में दस-दस सोने की मोहरें बँधी हुई थीं। इस महायज्ञ में अनेक देशों से, निमंत्रण पाकर, बड़े-बड़े पंडित आए थे।

यज्ञ के अंत में राजर्षि जनक ने आई हुई पंडित-मंडली को संबोधन करके कहा—आप लोगों में जो सब से बढ़कर ब्रह्मज्ञ हो, उन्हीं के लिये ये सुवर्ण-मुद्रा-सहित गउएँ बँधी हैं।

सभा में बैठे हुए लोगो में से किसी को उठकर वे गउएँ लेने का साहस नहीं हुआ। क्योंकि राजर्षि ने बड़ी कठिन बात कही थी। असंख्य विद्वानों की उस भीड़ में सब से बढ़कर ब्रह्मज्ञ होने का दावा करना कुछ साधारण बात नहीं थी। कौन साहस करता?

जब कोई नहीं उठा, तब महर्षि याज्ञवल्क्य उन हज़ारों गउओं को लेने के लिये उद्यत हुए। यह सभी लोग स्वीकार करते थे कि ज्ञान और विद्या में याज्ञवल्क्य ऋषि सबसे श्रेष्ठ हैं। और, इसके लिये याज्ञवल्क्य को भी एक तरह का अभिमान था। याज्ञवल्क्य की स्पर्धा देखकर पंडित-मंडली चंचल हो उठी, काना-फूसी भी होने लगी। लेकिन साहस करके कोई कुछ आपत्ति नहीं कर सका।

उस सभा के एक कोने में एक रमणी भी बैठी थीं। याज्ञवल्क्य की ढिठाई उन्हें असह्य हो उठी। वह आसन से उठकर खड़ी हो गईं। सब की नज़र उन पर पड़ी। वह गार्गी थीं।

याज्ञवल्क्य की ओर देखकर उन्होंने तेजस्वी भाषा में पूछा—ब्राह्मण, तुम क्या इस पंडित-मंडली के बीच सबसे बढ़कर ब्रह्मज्ञ हो?

याज्ञवल्क्य ने दृढ़ स्वर से उत्तर दिया—हाँ।

गार्गी ने कहा—अच्छा, केवल कह देने से न होगा। उसका परिचय दो।

तब एक महा तर्क छिड़ गया। गार्गी ने तरह-तरह के शास्त्रीय प्रश्न करके याज्ञवल्क्य की परीक्षा शुरू कर दी। ब्रह्म के संबंध में कितने ही कूटतर्क उठाए गए। ब्राह्मण-कुमारी गार्गी के प्रश्न-बाण याज्ञवल्क्य मुनि को बेधने लगे। सभा में स्थित पंडित-मंडली महा विस्मय के साथ वह शास्त्रार्थ सुनने लगी। सब लोग मन-ही-मन गार्गी के पांडित्य और उससे बढ़कर साहस की प्रशंसा करके धन्य धन्य के शब्द से उनके गौरव की घोषणा करने लगे।

१६—देवहूति

और एक प्रसिद्ध रमणी की कथा पुराणों में मिलती है। इनका नाम देवहूति था। यह राजा स्वायंभुव मनु की कन्या थीं। इनकी माता का नाम शतरूपा था। प्रियव्रत और उत्तानपाद नाम के दो प्रसिद्ध राजा देवहूति के भाई थे। उस समय कर्दम नाम के एक ऋषि ज्ञान, विद्या, बुद्धि आदि के लिये विशेष विख्यात थे। देवहूति की अभिलाषा हुई कि उन्हीं को अपना पति बनावें। ज्ञान और विद्या प्राप्त करने की चाह से देवहूति ने राजकन्या होकर भी उन दरिद्र ऋषि को अपना स्वामी बनाना चाहा। शिक्षा के ऊपर उनका अनुराग ऐसा ही प्रवल था।

राजा स्वायंभुव विवाह का प्रस्ताव लेकर कर्दम ऋषि के पास उपस्थित हुए। कर्दम उस समय ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के उद्योग में थे। देवहूति-सरीखी श्रेष्ठ रमणी को अनायास पाकर उन्होंने अपने को कृतार्थ समझा।

देवहूति पिता के घर का ऐश्वर्य छोड़कर स्वामी के साथ बनवासिनी हुईं। दिन दिन उनकी विद्या-लाभ की लालसा प्रवल हो उठने लगी। उनके स्वामी कर्दम उनकी इस लालसा को पूर्ण करने में कुछ भी कुंठित नहीं हुए। उनके ज्ञान भांडार में जो कुछ था, सो उन्होंने सब अपनी पत्नी को दे दिया। निर्जन बन में स्वामी के चरणों के पास बैठकर देवहूति ब्रह्मचारिणी की तरह एकाग्र मनसे शिक्षा प्राप्त करने लगीं। शिक्षा के साथ-साथ उनकी मानस

दृष्टि के आगे जगत् की कितनी ही विचित्र समस्याएँ चित्रित हो उठने लगीं। चिंताशीला रमणी उन समस्याओं की पूर्ति के लिये प्राण-पण से चेष्टा करने लगीं।

देवहूति के गर्भ से कर्दम के नव कन्या पैदा हुईं। उनमें अरुंधती और अनुसूया विशेष प्रसिद्ध हैं। अरुंधती वशिष्ठ की और अनुसूया अत्रि ऋषि की पत्नी थीं। पतिव्रताओं में दोनों की परम प्रसिद्धि थी! विवाह-मंत्र में उक्त है कि विवाह के समय कन्या कहे—"अरुंधती, मेरी यही प्रार्थना है कि मैं तुम्हारी तरह अपने स्वामी पर अनुरक्त रहूँ।" अनुसूया भी अपनी बहन अरुंधती की तरह सर्वगुणगणालंकृता थीं।

सांख्य दर्शन के रचनेवाले मुनि भी इन्हीं देवहूति के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। कपिल मुनि ही दर्शनशास्त्र की चर्चा के जन्मदाता हैं। उन्होंने ही पहले पहल ज्ञान की प्रकाश-पूर्ण ज्योति लेकर मनुष्य के अंधकार से आच्छन्न मन के निगूढ़ तत्वों की खोज की, सूक्ष्म दृष्टि से मनुष्य के अंतःकरण का विश्लेषण करके देखा। उन्होंने ही यह आलोचना पहले पहल की कि दुःख और शांति का बीज कहाँ छिपा हुआ है। उन्होंने ही पहले पहल आविष्कार किया कि उस दुःख के बीज का ध्वंस किस तरह किया जा सकता है, किस तरह मनुष्य को मुक्ति मिलती है।

किंतु कपिल के इस शिक्षालाभ के मूल में कौन वर्तमान है? किसने उनकी क्षुद्र दृष्टि को जगत् की व्यापकता में फैला दिया? मनुष्य के हृदय के भीतर के तत्व खोजने की प्रवृत्ति को किसने

कपिल के हृदय में जगा दिया ? उनकी जननी देवहूति ने ही। ऐसी माता अगर न मिलतीं तो शायद कपिलदेव हमें सांख्याचार्य के रूप में न देख पड़ते।

देवहूति ने अपने पुत्र कपिलदेव को ख़ुद प्राथमिक शिक्षा दी थी। कपिल को अपनी चिंता का प्रवाह किधर बहाना चाहिए, यह भी उन्होंने ही बता दिया था। देवहूति की ज्ञान-पिपासा इतनी प्रवल थी कि स्वामी के चले जाने पर उन्होंने अपने पुत्र कपिलदेव के साथ ज्ञान-चर्चा करके उनके नवप्रचारित सांख्य दर्शन का बराबर अनुशीलन किया। जिस दर्शन शास्त्र का अमूल्य बीज देवहूति ने पति की आराधना से प्राप्त किया था, उसे उन्होंने पुत्र की सहायता से पत्ते, फूल और फलों से शोभित करके छोड़ा।

१७--मदालसा

मदालसा ऐसी विदुषी माता थीं कि उन्होंने शिक्षा देकर अपने पुत्रों को महत् बना दिया। मदालसा गंधर्व-कन्या थीं, और ऋतध्वज राजा के साथ उनका ब्याह हुआ था। मदालसा विदुषी ही नहीं, भक्ति और ज्ञान में भी श्रेष्ठ थीं। उनके चार पुत्र थे—विक्रांत, सुबाहु, शत्रुमर्दन और अलर्क। पुत्रों को वह आप शिक्षा देती थीं। उनसे उपदेश पाकर विक्रांत, सुबाहु और शत्रुमर्दन तो संसार से विरक्त संन्यास व्रतधारी हो गए। चौथे पुत्र अलर्क महा प्रतापी

सम्राट् हुए। उन्होंने किस तरह पुत्रोंका चरित्र उन्नत बनाया था, इसका कुछ आभास नीचे लिखी घटना से मिल जायगा।

मदालसा के बड़े बेटे विक्रांत को एक दिन कई लड़कों ने मारा। वह रोते हुए मा के पास आकर कहने लगे—माता, कई बालकों ने मुझे मारा है। मैं राजपुत्र हूँ, वे प्रजा की संतान हैं। मैं इतने सम्मान का पात्र हूँ, तो भी वे साधारण मनुष्य मुझे मारें! इतनी उनकी मजाल! तुम इसका उपाय करो।

मदालसा ने यह सुनकर पुत्र को समझाया—बेटा, तुम शुद्ध आत्मा हो। आत्मा की प्रकृति कभी नाम-रूप आदि उपाधियों से कलुषित नहीं होती। तुम्हारा 'विक्रांत' नाम अथवा 'राजपुत्र' की उपाधि असल चीज़ नहीं है, वह केवल कल्पित मात्र है। अतएव राजपुत्र होने का अभिमान करना तुम्हें नहीं सोहता। तुम्हारा यह देख पड़ रहा शरीर पंचतत्वका बना है। तुम यह देह नहीं हो, फिर देह के विकार में रो क्यों रहे हो?

रानी की शिक्षा के प्रभाव से जब तीन पुत्र संसार-त्यागी हो गए, तब राजा ऋतध्वज ने चिंतित होकर मदालसा से कहा—मदालसा, तीन पुत्रों को तो तुमने संसार से विरक्त बनवासी बना दिया; अब छोटा लड़का जिसमें अपने तीनों भाइयों का अनुगामी न हो, वही करो। वह भी अगर संन्यासी हो गया, तो फिर राज्य का पालन कौन करेगा?

मदालसा ने स्वामी की आज्ञा से छोटे लड़के को, जिसका नाम अलर्क था, राजनीति की शिक्षा देना शुरू किया। उनके वे

उपदेश पढ़ने से यह अच्छी तरह समझ में आ जाता है कि राजनीति में भी उनकी विलक्षण गति थी।

मार्कंडेयपुराण में ऋतध्वज और मदालसा के सम्बन्ध में एक उपाख्यान पाया जाता है।

दैत्यों और दानवों के असीम उत्पात से गालव ऋषि के तप में विघ्न पड़ रहा था। यह खबर पाकर शत्रुजित् राजा के पुत्र ऋतध्वज ऋषि की सहायता के लिये उनके आश्रम में गए। एक दिन जिस समय गालव ईश्वर की आराधना में लगे थे, उसी समय एक दानव विघ्न डालने के लिये सुअर का रूप रखकर उस आश्रम में उपस्थित हुआ! राजकुमार ऋतध्वज ने उसे देखकर बाण धनुष पर चढ़ाया, और नाराच मारकर उसे घायल भी कर दिया। सुअर प्राणों के भयसे भाग खड़ा हुआ और ऋतध्वज भी कुवलय नाम के घोड़े पर सवार होकर उसके पीछे चले। सुअर हज़ारों योजन भागता ही गया, राजकुमार ने भी पीछा न छोड़ा। अन्त को वह शूकररूपी दानव एक गढ़े में घुसकर ग़ायब हो गया। ऋतध्वज गढ़े में भी घुसे चले गए।

गढ़े में घोर अन्धकार था। बहुत देर तक उस अन्धेरे के भीतर चलकर अन्त को ऋतध्वज प्रकाश में पहुँचे। देखा, सामने इंद्रपुरी को भी मात करनेवाले सैकड़ों महल जगमगा रहे हैं। एक अपूर्व पुरी है। चारों ओर दीवार से घिरी हुई है। वह सुअर का पीछा करते-करते एक ऐसी जगह पहुँच गए, जिसका उन्होंने सपने में भी अनुमान नहीं किया था। एक महल के भीतर पहुँचकर उन्होंने

देखा, सखियों के बीच एक कृशतनु अपूर्व सुंदरी विराजमान है। ऋतध्वज को देखते ही वह सुंदरी शिरोमणि मूर्च्छित हो गई।

सखियों की सेवा से जब उस रमणी को चेत हुआ तब राजपुत्र ने उनका परिचय पूछा। एक सखी ने कहा—यह गंधर्वराज विश्वावसु की कन्या मदालसा हैं। यह एक दिन बाग़ में सैर कर रही थीं कि इसी समय वज्रकेतु दानव का पुत्र पातालकेतु अन्धकार-मयी माया फैलाकर इन्हें हर लाया। उसीने ब्याह करने की आशा से इनको यहाँ क़ैद कर रक्खा है।

सखी जब गंधर्वकुमारी का परिचय दे चुकी, तब उसने फिर राजकुमार से पूछा—आप कौन हैं? और किस तरह इस पाताल-पुरी में आए हैं? ऋतध्वज ने आदि से अंत तक सब हाल कह सुनाया। सखी ने फिर कहा—तो आप इस पातालपुरीसे निकाल कर मेरी सखी मदालसा को पातालकेतु दानव के चंगुल से छुड़ाइए। यह आपके ऊपर अनुरक्त भी हो गई हैं। देव-कन्यारूपिणी मदालसा को पत्नी-रूप में पाकर कौन अपने को सौभाग्यशाली न समझेगा? और आप भी मेरी सखी के सब तरह योग्य वर हैं।

ऋतध्वज मदालसा से गंधर्व विवाह करके उनके साथ पाताल-पुरी से बाहर निकलने लगे। राह में दैत्यों ने उनपर हमला किया। अत्यंत घोर युद्ध ठन गया। ऋतध्वज ने अकेले सब दानवों को मार डाला और जय-लाभ करके पत्नी के साथ निर्विघ्नरूप से पिता के राज्य में लौट आए। ऋतध्वज के पिता शत्रुजित् और सब नगर-निवासियों ने बड़े आनंद से वर-वधू को ग्रहण किया।

कुछ समय के बाद ऋतध्वज पिता की आज्ञा से ऋषियों के तप की रक्षा के लिये फिर घर से बाहर निकले, और घूमते-घूमते यमुना-तट पर पहुँचे। वहाँ पातालकेतु का छोटा भाई तालकेतु माया-बल से मुनि का रूप रखकर एक आश्रम में रहता था। तालकेतु ऋतध्वज को देखते ही पहचान गया कि यही मेरे भाई का वैरी है। उसने बदला लेने के लिये एक कौशल से काम लिया। उसने ऋतध्वज के पास आकर कहा—"राजकुमार, आप ऋषियों की तपोरक्षा में नियुक्त हैं। मैंने एक यज्ञ के अनुष्ठान का संकल्प किया है; किंतु दक्षिणा देने की क्षमता न होने के कारण मैं उस संकल्पको कार्य-रूप में परिणत नहीं कर पाता। आप अपने गले का यह रत्न-हार अगर मुझे दे दें तो उससे मेरी बहुत दिनों की अभिलाषा पूरी हो जाय।"

यह सुनकर ऋतध्वज ने उसी दम गले से रत्नों का हार उतार दिया। छद्मवेशी हार पाकर कहने लगा—मैं अब जल के भीतर प्रवेश करके वरुणदेव की आराधना करूँगा। जब तक लौटकर मैं न आऊँ तब तक आप मेरे आश्रम की रक्षा कीजिए।

तालकेतु की बातों पर ऋतध्वज को कुछ संदेह नहीं हुआ; वह उसी आश्रम में रहने लगे। उधर तालकेतु वह हार लेकर राजा शत्रुजित के राज्य में पहुँचा और वही हार दिखाकर यह प्रचार कर दिया कि दानवों के साथ युद्ध में ऋतध्वज मर गए। इस दारुण संवाद को सुनकर पतिव्रता मदालसा मर गईं। वह सुनते ही बेहोश हो गईं और फिर नहीं उठीं।

तब तालकेतु ने लौटकर यमुना-तट में आकर राजकुमार से कहा —युवराज, मेरा यज्ञ समाप्त हो गया, अब आप जहाँ चाहें जा सकते हैं! मेरा बहुत दिनों का मनोरथ आपने पूरा किया; आपका मंगल हो।

ऋतध्वज ने राजधानी में लौट आकर सब हाल सुना। मदालसा इस लोक में नहीं है, स्वामी की मृत्यु की ख़बर पाते ही उन्होंने भी प्राण त्याग दिए—इसी शोक से ऋतध्वज बिह्वल हो गए और "मदालसा मेरे मरने की ख़बर पाकर मर गई, और मैं उसके बिना अब तक जीता हूँ! मुझे धिक्कार है!" यों कहकर विलाप करने लगे।

ऋतध्वज की यह दशा देखकर उनके बंधु नागराज के पुत्रों ने इसके प्रतीकार की चेष्टा शुरू की। मदालसा के साथ जिसमें ऋतध्वज का फिर मिलन हो, इसके लिए ऋतध्वज के पिता शत्रुजित् ख़ुद नागराज से अनुरोध करने लगे। नागराज ने हिमालय पर जाकर घोर तप किया। तपस्या से सरस्वती और महादेव को संतुष्ट करके उन्होंने यह वर प्राप्त किया कि मदालसा जिस अवस्था में मरी है, ठीक उसी अवस्था में, वह नागराज की कन्या होकर नागराज के घर उत्पन्न होगी।

महादेव और सरस्वती के वरदान से मदालसा जैसी थीं, ठीक वैसी ही होकर नागराज के घर पैदा हुईं। उसके बाद एक दिन नागराज ने नागपुरी में ऋतध्वज का निमंत्रण करके मदालसा से उन्हें मिला दिया।

१८—आत्रेयी ।

आत्रेयी प्राचीन भारत की एक श्रेष्ठ विदुषी रमणी हैं। मालूम नहीं, इन्होंने किसी ग्रंथ की रचना की या नहीं, लेकिन ज्ञानोपार्जन के बारे में इनके जैसे गभीर अनुराग और अदम्य अध्यवसाय का परिचय पाया जाता है, वह अनुपम है। इनकी ऊपर-लिखी बात का दृष्टान्त जगत्-भर में अति विरल होगा।

प्राचीन वेदाध्यापक महा कवि बाल्मीकि को उपयुक्त गुरु समझ कर यह रमणी पहले उनसे वेद-वेदाङ्ग, उपनिषद् आदि शास्त्र पढ़ने गईं और वहाँ कुछ समय तक कठिन परिश्रम के साथ शास्त्राभ्यास भी किया। लेकिन जब सीतादेवी के यमज पुत्र लव-कुश महर्षि के निकट पढ़ने-लिखने लगे, तब आत्रेयी देवी को विशेष असुविधा हुई। लव-कुश की प्रतिभा ऐसी अद्भुत थी कि बारह वर्ष की अवस्था पूरी होने के पहले ही वे बहुत से शास्त्रों का अध्ययन करके ऋक्, यजुः, साम वेदों में विशेष व्युत्पन्न हो गए। उस सुकुमार बाल्यावस्था में ही वे महर्षि प्रणीत रामायण नाम का वृहत् महाकाव्य आदि से अंत तक कंठ कर चुके थे। इन दोनों तीक्ष्णबुद्धि बालकों को पाकर शायद महर्षि भी अपने अन्य शिष्यों और शिष्याओं को शिक्षा देने में कुछ शिथिल-प्रयत्न हो गए। इसी कारण आत्रेयी ने बाल्मीकि के आश्रम में अपनी ज्ञान-पिपासा मिटने का वैसा सुयोग नहीं देख पाया। लव-कुश की प्रदीप्त प्रतिभा के आगे उन्हें अपनी मानसिक शक्ति अत्यंत हीन जान पड़ी। उनके साथ पाठ पढ़कर वह समान

भाव से उनके साथ आगे नहीं बढ़ सकीं। इसीसे भग्नहृदय होकर महर्षि का आश्रम छोड़, चल दीं। उनकी ज्ञान-पिपासा इतनी प्रवल थी कि वह तनिक भी विलंब न करके उपयुक्त गुरु की खोज में निकल पड़ीं। उस समय अनेक वेदज्ञ पण्डित दक्षिण-भारत को अलंकृत किए हुए थे। उनमें महामुनि अगस्त्य ही सर्वश्रेष्ठ थे। आत्रेयी ने उपनिषद् आदि पढ़ने के लिये उनके पास जाने का दृढ़ संकल्प किया।

स्त्री के लिये उस समय उस कई योजन दूर पर स्थित अगस्त्य के आश्रम में जाना कोई साधारण बात नहीं थी। उस समय रेल या और सवारी की कौन कहे, अच्छी और सीधी राह भी न होगी। लेकिन उस ब्रह्मचारिणी की अनन्य ज्ञानस्पृहा के आगे कोई बाधा-विघ्न अथवा क्लेश नहीं टिक सका। असहाय रमणी अकेली पैदल चल दी। कितने ही जनपद, नद-नदी, पर्वत और विशाल दंडकारण्य नाँघकर बहुत दिनों के बाद आत्रेयी अगस्त्य के आश्रम में पहुँचीं।

लिखा है, महर्षि अगस्त्य इस रमणी की अद्भुत ज्ञानस्पृहा और अदम्य अध्यवसाय देखकर एकदम मुग्ध हो गए। उन्होंने कन्या की तरह स्नेह से आत्रेयी को आश्रम में रक्खा और यत्न के साथ शिक्षा दी। उनके यों आग्रह सहित पढ़ाने से आत्रेयी का भी मनोरथ पूरा हुआ और वह एक श्रेष्ठ विदुषी के नाम से परिचित हुईं।

१९----भारती

भगवान् शंकराचार्य जिस समय बढ़े हुए बौद्ध-धर्म के ग्रास से आर्य-धर्म को बचाने की चेष्टा कर रहे थे, जिस समय वह सिंधु-

अपकूल से हिमालय तक सब देशों में शिष्यों-सहित जाकर अपने मत की स्थापना और दिग्विजय कर रहे थे, उस समय उस कार्य में एक रमणी ने भी उनकी सहायता की थी। वह विदुषी रमणी मंडन मिश्र की पत्नी भारती थीं। कोई-कोई इन्हें उभयभारती भी कहते हैं। यह रमणी महाविदुषी थीं।

सुना जाता है, बचपन में इनकी बुद्धि की तेज़ी और बहुमुखी प्रतिभा देखकर सब विस्मित हो जाते थे। इन्होंने सोलह वर्ष की अवस्था में ही चारो वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—ये छहो वेदांग, न्याय, सांख्य, पातंजल, वेदांत, मीमांसा और वैशेषिक—ये छहो दर्शन, धर्मशास्त्र, पुराण, उप-पुराण, काव्य, नाटक, अलंकार, इतिहास आदि अनेक शास्त्र पढ़कर असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया था। लोग इन्हें साक्षात् सरस्वती समझते थे। इनका कण्ठस्वर बड़ा ही मधुर था—इसीसे इनका एक नाम सरसवाणी भी था।

एक समय शंकराचार्य मंडन मिश्र के घर पहुँचे। उनके साथ शंकराचार्य का शास्त्रार्थ होने लगा। उस शास्त्रार्थ के पहले शंकराचार्य ने प्रतिज्ञा की कि अगर मैं तर्क में हार जाऊँगा तो मंडन मिश्र का शिष्य होकर गृहस्थाश्रम ग्रहण करूँगा। मंडन मिश्र ने भी प्रतिज्ञा की कि अगर मैं शास्त्रार्थ में हार जाऊँगा तो गृहस्थाश्रम छोड़ शंकराचार्य का शिष्य होकर संन्यास धर्म ग्रहण करूँगा। दोनों ही विद्वान् अगाध पण्डित थे। उनका शास्त्रार्थ साधारण नहीं था। दो दल के दो प्रधान पंडितों का शास्त्रार्थ ठहरा—उस

शास्त्रार्थ का विचार करनेवाला मध्यस्थ भी असाधारण पंडित होना चाहिए। इतना बड़ा पंडित कौन मिले ?

किन्तु मध्यस्थ के लिये दूर नहीं जाना पड़ा। मंडन मिश्र की स्त्री भारती देवी को ही दोनों ने मध्यस्थ मंजूर कर लिया। उन्होंने भी यह महासम्मान का पद स्वीकार कर लिया और न्याय के साथ उसका निर्वाह भी किया। इसी बात से समझा जा सकता है कि वह कितनी बड़ी विदुषी थीं !

शास्त्रार्थ होने लगा। भारती जयमाला हाथ में लिए बैठी हुई सुनने लगीं—वह माला किसके गले में पहनावेंगी, कौन वह माला पाने के योग्य है, इसी की धीर भाव से निष्पत्ति करने लगीं। योग्य पात्र के ऊपर ही विचार का भार दिया गया था। भारती ने विचार में पति का बिल्कुल पक्षपात नहीं किया। वह जिस पद पर बिठाई गई थीं, वह बड़े महत्त्व का था। भारती ने देखा, उनके स्वामी शास्त्रार्थ में हार गए। उन्होंने बिना किसी सोच-विचार के वह जयमाला शंकराचार्यजी के गले में डाल दी।

स्वामी को पराजित देखकर भारती ने शंकराचार्य से कहा—मेरे पति अवश्य हार गए, लेकिन मैं अभी बाकी हूँ। पुरुष का आधा अंग स्त्री होती है। मुझे भी शास्त्रार्थ में जीतकर आप विजयी हो सकेंगे। स्त्री के मुख से ये वचन सुनकर शंकराचार्य को बड़ा विस्मय हुआ। रमणी भुवन-विजयी शंकराचार्य से शास्त्रार्थ करना चाहती है !

खैर भारती से भी शङ्कराचार्य का शास्त्रार्थ शुरू हो गया।

भारती प्रश्न करने लगीं और शंकराचार्य उनका उत्तर देने लगे। शंकराचार्य भी जो शास्त्रीय जटिल समस्या उपस्थित करते थे उसे भारती सुलझाती थीं। इस तरह दिनोरात एक महीना सात दिन तक यह अद्भुत शास्त्रार्थ होता रहा। भारती किसी तरह बंद नहीं हुईं ; वह जैसे शंकराचार्य को जीतने का प्रण कर बैठी थीं। शंकराचार्य उनके पांडित्य, धैर्य, अध्यवसाय और शास्त्र-ज्ञान को देखकर अचंभे में आ गए। उन्होंने अपने मन में कहा, अब तक अनेक पंडितों से शास्त्रार्थ किया है, मगर ऐसी तर्क-शैली और कोटि-क्रम कहीं नहीं देखा।

किसी-किसी का मत है कि अंत को भारती ने बाल-ब्रह्मचारी शंकराचार्य को काम-कला-संबंधी प्रश्न करके चुप कर दिया। कारण, वह इस शास्त्र से बिल्कुल अनभिज्ञ थे।

कुछ लोगों का मत है कि शंकराचार्य ने कुछ समय लेकर, योग-बल से अन्य शरीर धारणकर, काम-कला-संबंधी ज्ञान प्राप्त किया और भारती के प्रश्नों का उत्तर दे दिया। इस तरह भारती को भी उनसे हार माननी पड़ी। ख़ैर जो कुछ हो, शास्त्रार्थ समाप्त हुआ। भारती किसी तरह शंकराचार्यको परास्त नहीं कर सकीं। तब मंडन मिश्र अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार शंकराचार्य के शिष्य संसार-त्यागी हो गए। पतिव्रता भारती भी संसार त्यागकर पति की अनुगामिनी हुईं।

शंकराचार्य ने तर्क में जय-लाभ करके केवल मंडन मिश्र ऐसे विद्वान् को ही नहीं पाया, साथ ही विदुषी भारती को भी प्राप्त

किया। शंकराचार्य ने जिस महाकार्य का भार अपने ऊपर लिया था, उसे पूर्ण करने के लिये भारती के समान रमणी की विशेष आवश्यकता थी। भारती ने तन्मय होकर शंकराचार्य के कार्य आर्य-धर्म की रक्षा में सहायता पहुँचाई। भारती-सी विदुषी रमणी को न पाते, तो शायद शंकराचार्य के अनेक कार्य असम्पूर्ण ही रह जाते।

२०---लीलावती

लीलावती का नाम भारत में ही नहीं, सारे जगत् में प्रसिद्ध है। लीलावती पंडितवर श्रेष्ठ ज्योतिषी भास्कराचार्य्य की कन्या थीं। लीलावती थोड़ी ही अवस्था में विधवा हो गई थीं। उनके विधवा होने के बारे में एक घटना प्रसिद्ध है।

लीलावती के पिता भास्कराचार्य्य ज्योतिषशास्त्र के असाधारण पंडित थे। उन्होंने कन्या का भाग्य-फल ज्योतिष से विचारकर जाना कि लीलावती ब्याह होने के कुछ दिन बाद ही विधवा हो जायँगी। वह ज्योतिषी पंडित थे, ज्योतिष की सभी बातें जानते थे। गणित करके ऐसा लग्न खोजने लगे जिसमें ब्याह होने से कन्या कभी विधवा नहीं हो सकती। अभ्रान्त रूप से उस शुभ लग्न का समय ठीक करने के लिये उन्होंने एक छोटे पात्र में छेद करके पानी के ऊपर छोड़ दिया। छेद की राह से जल भरते-भरते जिस घड़ी वह पात्र पानी में डूब जायगा वही उस शुभलग्न का समय होगा—यह निश्चित हुआ था। क्योंकि उस समय प्रायः इसी तरह धूप-घड़ी,

जल-घड़ी आदि से समय निश्चित होता था। मनुष्य ने कौशल और विद्या-बुद्धि के बल से विधाता के लिखे को निष्फल करना चाहा, लेकिन वह चेष्टा विधाता के अमोघ विधान से व्यर्थ हो गई।

लीलावती बालिका थीं, उन्हें कौतूहल होना स्वाभाविक ही था। वह उस पात्र के डूबने का दृश्य कौतूहल के साथ देख रही थीं। उस समय वह ब्याह की पोशाक पहने थीं; उनके सिर पर मोतियों से सुशोभित आभूषण था। वह झुककर जैसे उस अर्धमग्न पात्र को देखने लगीं वैसे ही एक छोटा-सा मोती उस पात्र में गिर गया और उससे पात्र का छेद बन्द हो गया। इस घटना की खबर उस समय किसी को नहीं हुई।

सब लोग पात्र के डूबने की राह देख रहे थे, लेकिन पात्र नहीं डूबता। असम्भव विलम्ब होते देखकर देखा गया तो मालूम हुआ, एक छोटे-से मोती ने पात्र का छेद बंद कर दिया है। उसमें जल जाता ही नहीं, पात्र कैसे डूबे। जिस समय पात्र को जल में डूबना चाहिए था, वह शुभ लग्न न-जाने कब निकल गया, भास्कराचार्य को मालूम ही नहीं हुआ। उन्होंने देखा, विधाता का विधान व्यर्थ नहीं किया जा सकता। लाचार होकर विधाता के विधान को शिरोधार्य करके भास्कराचार्य ने कन्या का ब्याह कर दिया। लीलावती भी भाग्य-लिपि के अनुसार शीघ्र ही विधवा हो गईं।

तब पिता ने कन्या को अपने पास रखकर अपना सब पांडित्य सिखाना शुरू किया। लीलावती के पांडित्य का परिचय देने की विशेष आवश्यकता नहीं है। सुन पड़ता है, वह गणित करके वृक्षों

के पत्तों की ठीक संख्या बता देती थीं। उन्होंने अपना सारा जीवन पढ़ने-पढ़ाने में ही बिताया।

२१—विद्या

यह महा बुद्धिमती विदुषी रमणी महाकवि कालिदास की पत्नी थीं। महाकवि कालिदास पहले महा मूर्ख थे। उनके साथ विद्या-देवी के विवाह का अद्भुत वृत्तांत इस तरह है—

विद्या राजकुमारी थीं। उन्होंने थोड़ी ही अवस्था में सब शास्त्रों का अध्ययन कर लिया था। उनके यहाँ जो पंडित आता था, वही उनसे शास्त्रार्थ में हार जाता था। विद्या की यह प्रतिज्ञा थी कि जो विद्वान् उन्हें शास्त्रार्थ में जीत लेगा, उसीके साथ वह ब्याह करेंगी। सब पण्डितों ने हारकर अपने अपमान का बदला लेने के लिये यह सलाह की कि किसी महा मूर्ख के साथ राजकुमारी का ब्याह करावेंगे।

पण्डित लोग महा मूर्ख की खोज करने लगे। एक जगह उन्होंने देखा, कालिदास पेड़ पर चढ़े हुए जिस डाल पर खड़े हैं, उसीको काट रहे हैं। पण्डितों ने सोचा, इससे बढ़कर मूर्ख दूसरा नहीं मिल सकता। उन्होंने कालिदास को अपने पास बुलाकर राज-दरबार में चलने के लिये राज़ी किया। उन्होंने इन्हें समझा दिया कि तुमसे कुछ भी पूछा जाय, तुम उत्तर में कह देना—वारि।

कालिदास राजसभा में पहुँचे। पंडितों ने तो षड्यन्त्र रच ही रक्खा था। उन्हींकी सम्मति से राजकुमारी ने पूछा—अजीर्णस्य किमौषधम् ? (अजीर्ण की क्या दवा है ?) कालिदास ने 'वारि' की जगह भूलकर 'चारि' कह दिया। राजकुमारी चकराईं; पर पण्डितों ने अपनी ओर से यह अद्‌भुत व्याख्या की कि यह बहुत ठीक कहते हैं—अजीर्ण की दवा चार हैं—हर्रा, पंथा, निद्रा, वारि।

इस तरह कालिदास को अपूर्व पंडित साबित करके पंडितों ने उनसे राजकुमारी का ब्याह करा दिया।

एक किंवदन्ती यह भी है कि कालिदास से राजकुमारी का मूक शास्त्रार्थ होने की बात पण्डितों ने पक्की की थी। विद्या ने एक उँगली दिखाई, कालिदास ने दो दिखाईं। विद्या का भाव था, ब्रह्म एक है। कालिदास समझे, एक आँख फोड़ने को कहती है, सो उन्होंने दिखाया, मैं दोनों फोड़ दूँगा। पण्डितों ने उसका समाधान यों किया कि यह कहते हैं, एक नहीं, प्रकृति और पुरुष दो सृष्टि के कारण हैं। फिर विद्या ने पाँच उँगली उठाई, कालिदास ने यह समझकर कि थप्पड़ मारने को कहती है, दसों उँगली उठाईं। उनका मतलब यह था कि मैं दोनों हाथ से थप्पड़ मारूँगा। पंडितों ने इसका भी अपूर्व समाधन किया। वह यह कि इन्द्रियाँ पाँच नहीं दस हैं, पाँच ज्ञानेंद्रिय और पाँच कर्मेंद्रिय।

कुछ भी हो, कालिदास से विद्या का ब्याह हो गया। रात को वह राजकुमारी के महल में गए। विद्या ने इनको चित्रशाला के तरह तरह के चित्र दिखाने शुरू किए। ऊँटों की क़तार एक चित्र में

देखकर यह बे-साख्ता कह उठे—उट्र-उट्र। इनके इस उच्चारण से विद्या को पंडितों के षड्यंत्र का पूरा पता लग गया; क्योंकि उसने फिर कई तरह परीक्षा करके इन्हें जाँच लिया। विद्या इससे इतना खिन्न हुई कि उसने वैधव्य स्वीकार करके कालिदास को मार डालना पसन्द किया। मूर्ख-सङ्ग से बढ़कर विद्वान् के लिये और क्या दुःख हो सकता है!

विद्या ने महल के पीछे की खिड़की खोलकर उसमें झाँकने के लिये कालिदास से कहा। जैसे यह झाँके वैसे ही उसने इन्हें नीचे ढकेल दिया। महल के नीचे नदी थी, और उसमें पानी के भीतर एक शिवमूर्ति। कालिदास की जीभ अचानक दाँतों के बीच में पड़कर कट गई और शिवमूर्ति पर चढ़ गई। आशुतोष शङ्कर ने प्रसन्न और प्रकट होकर वर माँगने को कहा। यह समझे, पूछते हैं, किसने ढकेल दिया? यह विद्या-विद्या कहने लगे। शङ्कर ने तथास्तु कह दिया।

अधिक न कहकर इतना ही लिखना यथेष्ट होगा कि कालिदास ने थोड़े ही समय में शङ्कर के वर से यथेष्ट विद्या पढ़ ली और महाकवि हुए। कालिदास जब पढ़-लिखकर विद्वान् होकर उस देश को लौटे और राजकुमारी के घर आकर द्वार खुलवाया तो विद्या ने पूछा—अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः? (कुछ वाणी में विशेषता है?) कालिदास ने इसके उत्तर में अस्ति, कश्चित्, वाक् इन तीन शब्दों को आदि में रखकर कुमार सम्भव (अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः—इत्यादि), मेघदूत (कश्चित्कान्तावि-

रहगुरुणा—इत्यादि) और रघुवंश (वागर्थाविवसंपृक्तौ—इत्यादि) इन तीन अमर काव्यों की रचना की और विद्या को संतुष्ट किया।

२२---बिदुला

यह वीर रमणी क्षत्रिय-कन्या थीं। इनकी कथा महा-भारत में है। इनका पुत्र शत्रुओं से हार गया था और हिम्मत हारकर राज्य लौटाने की चेष्टा छोड़ बैठा था। इन्होंने राजनीति-पूर्ण उत्तेजक वाक्य कहकर पुत्र को शत्रुओं के सामने खड़ा किया और अंत को इन्हीं के प्रभाव से इनका पुत्र विजयी हुआ।

महाभारत में, जो इनके वाक्य कुंती ने पांडवों को सँदेसा भेजने में उद्धृत किये हैं, वे मुर्दे में भी जान डालनेवाले हैं। जिन्हें इनके वे पांडित्य-पूर्ण बहु-दर्शिता से भरे वाक्य पढ़ने की इच्छा हो वे महाभारत का उद्योगपर्व पढ़कर देखें।

२३---खना

खना को ज्योतिषशास्त्र का असीम ज्ञान था। उन्होंने खुद ज्योतिषशास्त्र से संबंध रखनेवाले अनेक वैज्ञानिक तत्त्वों का आविष्कार किया था। उनके समान भारी ज्योतिषी शायद भारत में तो दूसरा नहीं हुआ।

किसी-किसी का कहना है कि खना अनार्यों से यह ज्योतिष विद्या सीख आई थीं, उस समय आर्य लोग इस विद्या को नहीं

जानते थे। यह अगर सच है तो खना के लिये और भी गौरव की बात है। जो हम लोगों में नहीं था, वह लाने के लिये अगर खना सचमुच कष्ट स्वीकार करके अनार्यों के द्वार पर गई थीं, तो हम उन्हें केवल उनकी विद्या के लिए गौरव देकर निश्चिन्त नहीं हो सकते। उन्हें पूज्यपाद का पद मिलना चाहिए। जान पड़ता है, यहाँ पर खना ने पुरुष-जाति को भी परास्त कर दिया।

खना के पदांक अनुसरण करके और भी एक आदमी ज्योतिष सीखने अनार्यों के पास गए थे। उनका नाम मिहिर था। वह महाराज विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से एक रत्न वराह के पुत्र थे। ये खना और मिहिर दोनों अनार्यों की बस्ती में एक साथ दिन रात घोर परिश्रम करके ज्योतिष विद्या सीख रहे थे। दोनों के मन में समान आग्रह और समान उत्साह था। कितनी ही अंधकार-पूर्ण अमा-निशाओं में सिंह-शार्दूल आदि के घोर शब्द से प्रतिध्वनित वन के बीच बैठकर इन दोनों बालक-बालिकाओं ने नक्षत्र-खचित असीम आकाश के रहस्य का द्वार खोलने के लिये न-जानें कितनी चेष्टा की होगी! भरणी कहाँ है, कृत्तिका कहाँ है, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु आदि नक्षत्र कहाँ हैं, मंगल, बुध आदि ग्रह कहाँ हैं, इसका निर्णय करने के लिये न-जानें कितनी रातें उन्होंने जागकर बिता दी होंगी! कौन केतु, कौन ग्रह किधर जा रहा है, यह देखते-देखते, उनका पीछा करते-करते दोनों की आँखें आकाश में न-जानें कितनी दूर का चक्कर लगा आई होंगी! आकाश के किस प्रांत में बैठकर मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि आदि ग्रह मनुष्यों के ऊपर मंगल और अमंगल

की वर्षा करते हैं, इस तत्त्व को समझने के लिये दोनों विद्यार्थियों को न-जानें कितना क्लेश स्वीकार करना पड़ा होगा !

भारतवर्ष के ज्योतिष शास्त्र का गौरव आज तक लुप्त नहीं हुआ। यूरोप अभी तक उसके गुण गाता है। यह सब गौरव खना के स्मृति-मन्दिर पर फूल बरसा रहा है।

शिक्षा समाप्त हो गई। खना के साथ मिहिर का व्याह हो गया। मिहिर और खना दोनों वराह के घर में आकर सुखपूर्वक रहने लगे।

खना ज्योतिष शास्त्र में स्वामी से भी बढ़कर विदुषी थीं। इसका प्रमाण नीचे-लिखी घटना से मिलता है। खना और मिहिर जब ज्योतिष की शिक्षा समाप्त करके अपने घर को लौटे उस समय यह घटना हुई थी।

ज्योतिष की शिक्षा समाप्त करके खना और मिहिर अनार्यों से विदा हुए। ये बहुत दिनों तक अनार्यों के पास रहे थे, इससे उन्हें भी इन पर ममता हो गई थी। विदा होनेके समय इन्हें पहुँचाने के लिये अनार्य लोग बहुत दूर तक आए। बालक-बूढ़े-जवान सब अनार्य इन दोनों को विदा करने के समय गाँव के किनारे पर बहने-वाली एक नदी के किनारे तक आए। वहाँ पर एक गऊ खड़ी थी, जो उसी समय ब्यानेवाली थी। आचार्य ने मिहिर से पूछा—वत्स, इस गऊ के जो बच्चा होनेवाला है वह किस रङ्ग का होगा ? मिहिर ने गणित करके उत्तर दिया; लेकिन वह ठीक नहीं उतरा। तब आचार्य ने मिहिर के हाथ में कई पोथियाँ देकर कहा—अभी तक

तुम सम्पूर्ण ज्योतिष शास्त्र नहीं सीख सके हो। ये पोथियाँ साथ लेते जाओ ; इनकी सहायता से अपनी शिक्षा पूर्ण कर लेना।

मिहिर परीक्षा में कृतकार्य नहीं हुए। आचार्य को उनकी शिक्षा की पूर्णता पर बराबर सन्देह बना हुआ था। किन्तु खना की विद्या बुद्धि पर उन्हें अगाध विश्वास था। उनको पूर्ण निश्चय था कि खना की ज्योतिष की शिक्षा सम्पूर्ण हो गई है।

मिहिर ने आचार्य के हाथ से पोथियाँ ले तो लीं, लेकिन उस समय उनका मन ठीक नहीं था। उन्होंने अपने मन में सोचा, इतने दिनों तक इतना परिश्रम करके जब मैं पूर्णरूप से ज्योतिष न सीख सका, तब इन कई साधारण पोथियों ही से क्या होगा ! यह सोच-कर उन्होंने वे पोथियाँ उस वेगवती नदी के भीतर फेक दीं। थोड़ी दूर पर खड़ी हुई खना अन्तिम बार गाँव की शोभा निहार रही थीं। एकाएक यह घटना उनकी नज़र के तले पड़ गई। वह दौड़कर मिहिर के पास आईं और कहने लगीं—यह क्या कर डाला ! मगर फिर क्या हो सकता था, वे पोथियाँ न-जानें कहाँ बहकर चली गईं। कहते हैं; उन पोथियों के साथ ही भूगर्भ की ज्योतिष विद्या इस संसार से लुप्त हो गई।

खना के जीवन का अन्तिम भाग बड़ा ही हृदय-विदारक हुआ।

खना के ससुर वराह विक्रमादित्य की सभा के एक रत्न थे। आकाश में सब मिलाकर कितने तारें हैं, यह जानने के लिये एक समय राजा विक्रमादित्य की बड़ी इच्छा हुई। इस प्रश्न की मीमांसा का भार महाराज ने वराह के ऊपर दिया ! किन्तु वराह किस

विद्या के प्रभाव से यह बता देते ? यह तो उनके ज्ञान की सीमा के बाहर था।

खना ने ससुर का उदास मुख देखकर पूछकर सब हाल जान लिया। उन्होंने ससुर को आश्वास देकर कहा—आप चिन्ता न करें ; मैं बता दूँगी।

खना की ज्योतिषविद्या का फल लेकर वराह पंडित राजसभा में पहुँचे। महाराज को बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने वराह से कहा—तुमने किस उपाय से तारे गिन लिए—बताओ। वराह को उसकी रीति कुछ भी मालूम न थी। लाचार होकर उन्हें खना का नाम लेना पड़ा।

विक्रमादित्य ने खना की विद्या का परिचय पाकर उनको अपनी सभा में दसवें रत्न का आसन देना चाहा।

पुत्र-वधू को राज सभा में आकर बैठना होगा, यह सुनते ही वराह के सिर पर जैसे वज्र गिर पड़ा। वह सोचने लगे कि किस तरह इस विपत्ति से छुटकारा मिले। अन्त को यह ठीक हुआ कि खना की जिह्वा काट दी जाय। तब वह बोल नहीं सकेंगी और फिर राजसभा के किसी प्रयोजन की नहीं रहेंगी।

वराह ने पुत्र को यह निष्ठुर कार्य सौंपा। मिहिर शस्त्र हाथ में लिए खना के पास पहुँचे। खना पहले ही से तैयार बैठी थीं। उन्होंने स्वामी को देखकर कहा—मैंने गणित करके बहुत दिनों से अपने भाग्य का फल जान लिया था। तुम संकोच मत करो। जो विधाता ने लिख दिया है, वह अवश्य ही होगा। यों कहकर खना ने

अपनी जीभ बाहर निकाल दी। मिहिर ने उनकी जीभ काट ली। धमनी के रक्त विंदु के साथ भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ ज्योतिषी के प्राण भी निकल गए।

२४--मीराबाई

मीराबाई चित्तौर के प्रातःस्मरणीय राना-वंश में ब्याही थीं। इनके स्वामी राना कुंभा थे। यह रानी परम वैष्णव और भक्त कवि थीं। चित्तौर केवल रमणियों की वीरता के गौरव से उन्नत नहीं है, उसीके साथ रमणी की विद्वत्ता के गौरव का अमूल्य मुकुट भी उसके मस्तक पर विराजमान है। मीराबाई की ख्याति जितनी उनकी धर्मनिष्ठा और भगवद्भक्ति के कारण है, उतनी ही विद्वत्ता के लिये भी है।

मीरा एक राठौर-सामंत की कन्या थीं। लड़कपन से ही उनके असाधारण रूप और मधुर कंठ की प्रसिद्धि थी। इसके लिये वह दूर-दूर देश-विदेश में प्रसिद्ध हो चुकी थीं। उनका रूप देखने और गान सुनने के लिये उनके पिता के घर पर अनेक स्थानों से लोग आया-जाया करते थे। मीरा के रूप-लावण्य और संगीत की माधुरी पर सभी मुग्ध हो जाते थे। इन मुग्ध अतिथि राजकुमारों में चित्तौर के युवराज कुंभाजी भी थे। मीरा का रूप देखकर और गाना सुन-कर वह इतना रीझ गए कि राठौर-सामंत के घर से लौटकर अपने राज्य तक आना उनके लिये असंभव हो उठा। वह वहीं कई दिन

तक रहे। जाते समय अपने हाथ की रत्न-जटित बहुमूल्य अँगूठी प्रेम की निशानी देते गए। अँगूठी के साथ ही उनका हृदय भी उनके हाथ से जाता रहा।

कुंभाजी चित्तौर पहुँचे। उसके बाद ही विवाह-संबंध का प्रस्ताव लेकर दूत राठोर-सामंत के पास पहुँचा। कुल-शील-मान-गुण आदि में कुंभाजी मीरा के योग्य वर थे। यथासमय शुभ लग्न में ब्याह हो गया।

मीरा बचपन से ही भक्ति-संपन्न थीं। उनके हृदय में संसार के भोग-विलास की लालसा का लेश भी न था। पिता के घर में वह अक्सर दिन-भर सब के साथ हरिनाम लिया करती थीं—भगवद्भजन में मग्न रहती थीं। संसार के प्रलोभनों की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखती थीं।

सुसराल की मर्यादा ने उन्हें राजमहल की ड्यौढ़ी के भीतर कैद कर दिया। वहाँ के ऐश्वर्य ने उन्हें पग-पग पर संसार की ओर खींचना चाहा। खुले आँगन में सर्व-साधारण के सामने मुक्तकंठ से हरिगुण गान करने का मौक़ा उन्हें नहीं मिला। महल की दीवारों ने कंठावरोध कर दिया। मीरा दिन-दिन मलिन और उदास होने लगीं। उनके भक्ति-प्रवाह ने संगीत मार्ग से बहने का मौक़ा न पाकर दूसरी राह निकाल ली।

मीरा पढ़ी-लिखी थीं। उन्होंने भक्ति-भाव-पूर्ण भजन बनाना शुरू कर दिया। ये सब कविता उनके उपास्य देव गिरिधरगोपाल के संबंध में हैं। उनकी कवित्व शक्ति और प्रतिभा अब तक गुप्त थी,

अब वह स्फूर्ति प्राप्त करने लगी। उनकी भक्ति-भाव-पूर्ण आवेशमयी रचना जब सर्वसाधारण में प्रचारित हुई तब चारो ओर प्रशंसा होने लगी। उन्हें कवि की पदवी और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

राजपूत वैष्णव उनके बनाए भजनों को भक्ति के साथ गाने लगे। आज तक वे भजन राजपूताने में और भारत के अन्य स्थानों में भी गाए जाते हैं और सच पूछो तो उन भजनों ने मीरा को अमर बना दिया। उन्होंने भक्ति-रसात्मक काव्य "रागगोविंद" और जयदेव कृत गीतगोविंद की एक टीका भी रची है। ये दोनों ग्रंथ ऐसे हैं कि सब लोग इनकी प्रशंसा करते हैं। राना कुंभाजी भी कविता करने लगे थे। सुना जाता है, मीरा ने ही उन्हें कविता करना सिखाया था।

मीरा अपने को धन-संपत्ति या भोग-विलास में मगन नहीं रख सकीं। स्वाधीनता के साथ मुक्तकंठ होकर दिन रात कृष्ण-कीर्तन करने और अन्य लोगों को हरिनाम पीयूष पिलाने के लिये उनका मन पागल हो उठा। उन्होंने स्वामी से अपनी इच्छा कह दी। कुंभाजी की आज्ञा से अंतःपुर में ही रनछोरदेव अथवा गिरिधरगोपाल का मंदिर बन गया। हर एक वैष्णव-वैष्णवी को उस मंदिर में जाने का अधिकार था। मीरा उन वैष्णव स्त्री-पुरुषों के साथ बिना संकोच के मिलकर कृष्ण-कीर्तन करने लगीं। उसी में उन्हें परम आनंद मिलता था। इसमें मीरा यहाँ तक तन्मय हो गईं कि स्वामी की सेवा का भी खयाल उन्हें न आता था।

कुंभाजी को अपनी रानी का इस तरह बिना किसी संकोच के

सर्व-साधारण के साथ मिलना-जुलना देखकर बहुत ही क्षोभ हुआ। वह राजा थे ; उनकी भोग-विलास की प्रवृत्ति तब तक वैसी ही तीव्र थी। वह चाहते थे कि उनकी असंख्य विलास की सामग्रियों के साथ मीरा भी उनके विलास की सामग्री बन जायँ ; किंतु मीरा कभी उस तरह स्वामी की सेवा नहीं करती थीं। कुंभाजी क्रमशः इस बात का अनुभव करने लगे कि उनकी स्त्री का चित्त दिन-दिन उन पर से उचटता जाता है और वह खुद इसका कुछ प्रतिकार नहीं कर पाते। तब उन्होंने फिर विवाह करने का इरादा किया। मीरा के आगे जब यह प्रस्ताव उठाया गया तो उन्होंने खुशी से अपनी सम्मति दे दी।

मीरा की सम्मति पाकर रानाजी अपने लायक़ कन्या खोजने लगे। झालावार-राजकुमारी के रूप-लावण्य की ख़बर राना के कानों तक पहुँची। उन्होंने उक्त राजकुमारी के साथ ब्याह करने का संकल्प किया। किंतु राजकुमारी के साथ मंदारगढ़ के राठौर-राजकुमार का ब्याह होने की बात पक्की हो चुकी थी। कुंभाजी इससे भी पीछे नहीं हटे। ब्याह की रात को जाकर उस राजकुमारी को हर लाए। झालावार की राजकन्या मंदार-राजकुमार पर अत्यंत आसक्त थीं। दोनों में गहरा और हार्दिक अनुराग था। चित्तौर के राना उन्हें तो हर लाए, मगर उनके मन को नहीं हर सके। जान पड़ता है, कुंभाजी के भाग्य में विधाता ने दांपत्य-सुख लिखा ही नहीं था।

पहले ही कह चुके हैं कि राना के महल के भीतर रनछोड़देव के

मंदिर में सभी वैष्णव-वैष्णवी जा सकते थे। एक दिन मंदार-राजकुमार अपनी प्रिया को देखने की अभिलाषा से वैष्णव का वेष बनाकर उस मंदिर में पहुँचे। जो अतिथि वैष्णव देव-दर्शन और हरि-कीर्तन के लिये मंदिर में जमा होते थे, वे विना भोजन किए नहीं जाने पाते थे। सब को देवता का प्रसाद खाना पड़ता था। उस दिन सब भोजन कर गए, मगर उक्त राजकुमार ने जल ग्रहण नहीं किया। अतिथि न भोजन करेगा तो अधर्म होगा, यह सोचकर धर्म-निष्ठ मीरा से नहीं रहा गया। उन्होंने उस नवीन वैष्णव से भोजन करने के लिये अनुरोध किया। वह सहज में राज़ी नहीं हुए। बहुत अनुरोध करने पर उन्होंने मीरा से कहा—अगर आप मेरा एक अनु-रोध मानें तो मैं भी आपका कहा करूँगा। आप प्रतिज्ञा कीजिए। मीरा ने और उपाय न देखकर प्रतिज्ञा की। तब मंदार-राजकुमार ने अपना परिचय देकर झालावार-कुमारी का सब हाल कहा। और, अंत को झालावार-कुमारी के साथ केवल एक बार साक्षात् करना चाहा।

राजपूत के अंतःपुर में पर-पुरुष को ले जाना बहुत ही कठिन और जान-जोखिम का काम है। किंतु राजकुमार के विलाप और कातर अनुरोध को सुनकर मीरा का दयालु हृदय पसीज उठा। इसके सिवा वह प्रतिज्ञा कर चुकी थीं। इसलिये विपत्ति अपने सिर पर लेकर उन्हें यह दुःसाहस का काम करना पड़ा।

मीरा ने अंतःपुर का गुप्त द्वार खोलकर राजकुमार को झाला-वार-कुमारी का घर दिखा दिया। दुर्भाग्यवश रानाजी उस समय

वहीं मौजूद थे। उन्होंने वैष्णव-वेषधारी राजकुमार को पहचान लिया। अपनी प्रणयिनी के साथ राजकुमार की भेंट नहीं हुई।

खोज करने से शीघ्र ही रानाजी को मालूम हो गया कि मीरा की सहायता से ही राजकुमार को अंतःपुर में जाने का मौक़ा मिला। मीरा के ऊपर तो वह पहले ही से असंतुष्ट थे ; इस घटना ने बारूद में आग का काम किया। उन्होंने कड़े स्वर में मीरा से कहा—अंतःपुर का गुप्त द्वार खोलकर पर-पुरुष को पहुँचाने के अपराध के लिये मैं तुमको अपने राज्य से निकालता हूँ। यह कठोर वाणी भक्त मीरा के हृदय को तनिक भी न चंचल कर सकी। महल और सड़क दोनों ही उनके लिये समान थे। वह स्वामी के चरणों की रज मस्तक में लगाकर भगवान् का नाम लेती हुई महल से निकलकर चल खड़ी हुईं।

चित्तौर की प्रजा मीरा को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी। मीरा के न रहने से चित्तौरपुरी उदास हो उठी। सब प्रजा रानाजी से असंतुष्ट हो गई ; सर्वत्र उनकी निंदा होने लगी। तब कुंभाजी ने मीरा को लौटा लाने के लिये अपने आदमी भेजे। अभिमान तो मीरा के था ही नहीं। उन्होंने कहा—मैं महाराज की दासी हूँ। उनकी आज्ञा से चली आई थी, और उन्हीं की आज्ञा से फिर चलती हूँ। मीरा फिर आकर चित्तौर में रहने लगीं।

पहले तो मीरा अंतःपुर में बने हुए देव-मंदिर में केवल वैष्णवों के साथ भगवद्भजन कर सकती थीं ; मगर अब उन्हें सर्व-साधारण के साथ सड़क पर भी भगवद्भजन की आज्ञा राना से मिल गई।

मीरा को इस तरह सब के साथ बिना किसी संकोच के मिलते-जुलते देखकर दुष्ट-स्वभाव और छिद्र ढूंढ़नेवाले लोगों का दल, जो कि सर्वत्र हुआ करता है, मीरा की निंदा, उनके चरित्र पर आक्षेप करने लगा। मीरा के मधुर गान पर रीझ कर किसी भगवद्भक्त बड़े आदमी ने उन्हें उपहार के तौर पर एक बहुमूल्य अलंकार दिया। मीरा ने वह अलंकार अपने काम में न लाकर इष्टदेव रनछोरदेव को पहना दिया। इस अलंकार की बात लेकर दुष्ट लोग तरह-तरह से मीरा की निंदा फैलाने लगे। सब बातें राना के कानों तक पहुँचीं। उन्होंने क्रोध से अंधे होकर मीरा को पत्र में लिख भेजा—मीरा नदी आदि में डूब कर अपनी जान दे दें। पत्र पाकर मीरा ने एक बार स्वामी से मिलना चाहा। लेकिन राना ने भेंट नहीं की। तब मीरा स्वामी की आज्ञा शिरोधार्य करके नदी में फाँद पड़ीं। मगर नदी ने उन्हें डूबने नहीं दिया ; वह बेहोश होकर किनारे आ लगीं।

होश आने पर मीरा पैदल ही वृन्दावन की ओर चल दीं। राज-रानी आज राह-राह भिक्षा माँगती खाती चलीं ; लेकिन उसके लिये उनके मन में रत्ती-भर क्षोभ नहीं हुआ। कृष्ण-नाम के प्रभाव से भूख-प्यास, थकन, कष्ट आदि उनका कुछ बना नहीं सकते थे। जिधर से मीराबाई तन्मय भाव से हरि-गुण-गान करती निकलती थीं उधर ही यह समाचार फैल जाता था कि मीराबाई इधर आ रही हैं। वैसे ही आस-पास के गाँवों से दल के दल लोग आकर उनके साथ हो जाते थे। सभी उनके साथ वृन्दावन जाने के लिये तैयार थे।

हज़ारों की संख्या में भक्त यात्रियों का दल साथ लिए हुए

मीरा वृन्दावन में पहुँचीं। वहाँ श्रीकृष्णचंद्र के चरणारविंदों में पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण करके मीरा ने अपने को कृतार्थ समझा—उन्हें पूर्ण आनंद प्राप्त हुआ। इस समय मीरा का यश सर्वत्र फैल गया। अनेक स्थानों से भक्त लोग आकर उनके शिष्य होने लगे। उनके मुख से मीरा के बनाए भजन भारतवर्ष के सब स्थानों में फैल गए। मीरा-संप्रदाय नाम का एक धर्म-संप्रदाय भी चल निकला।

सभी बातें कुंभाजी के कानों तक पहुँचीं। तब मीरा के साथ अनुचित व्यवहार करने लिये उन्हें पश्चात्ताप हुआ। वह खुद वृन्दावन गए, मीरा से क्षमा प्रार्थना की, और उनसे चित्तौर चलने के लिये कहा। मीरा सदा से स्वामी की आज्ञा को मानती चली आती थीं। इस बार भी स्वामी की आज्ञा मानकर चित्तौर लौट आईं। लेकिन अधिक समय तक राजपुरी में नहीं रह सकीं। धन-संपत्ति और भोग-विलास तो उनको विष-से जान पड़ते थे। इसी कारण वह फिर वृन्दावन चली गईं। कुंभाजी के अनुरोध से वह कभी कभी चित्तौर आकर उनसे मिल जाती थीं।

मीरा ने शेष जीवन तीर्थ-पर्यटन में ही बिताया। मीरा नाम-कीर्तन करते-करते, भक्ति के आवेश में, अक्सर मूर्च्छित हो जाती थीं। अंत को एक दिन सदा के लिये मूर्च्छित हो गईं, फिर नहीं उठीं। चित्तौर में अब तक रनछोरदेव के साथ मीराबाई की पूजा होती है।

किंतु मीरा के बारे में इतिहास के पंडितों ने खोज करके अब और ही कुछ निश्चय किया है। उनका कहना है कि मीराबाई राना

कुंभा की स्त्री नहीं थीं। इनके पति का नाम भोजराज था, जो उद्-यपुर के राना संग्रामसिंह के बेटे थे। इनके देवर का नाम विक्रमाजीत था और उसीने नाराज़ होकर इनको विष पिलाया था। मीराबाई मेड़तिया के राठौर रतनसिंह की लड़की, राव ईदा की पोती और जोधपुर को बसानेवाले प्रसिद्ध राव जोधाजी की परपोती थीं। इनका जन्म संवत् १५७३ में, चोकड़ी गाँव में हुआ था और यह ब्याह के कुछ ही दिन वाद विधवा हो गई थीं। बहुत संभव है, इसी शोक को दूर करने के लिये इनका झुकाव भगवद्भक्ति की ओर हो गया हो।

कुछ भी हो, मीराबाई परमभक्त होने के साथ ही अच्छी विदुषी भी थीं, जिसका पता इनके बनाए भजनों और गीतगोविंद की टीका देखने से लगता है। नमूने के तौर पर इनके दो भजन यहाँ लिखे जाते हैं—

(१)

मन रे परसि हरि के चरन।
सुभग सीतल कमल कोमल त्रिविध ज्वालाहरन।
जे चरन प्रहलाद परसे इंद्र पदवी धरन॥
जिन चरन ध्रुव अटल कीनो राखि अपने सरन।
जिन चरन ब्रहमंड भेट्यो नखसिखौ श्रीभरन॥
जिन चरन प्रभु परसि लीने तरी गौतमघरन।
जिन चरन कालीहि नाथ्यो गोपलीला करन॥

जिन चरन धार्‌यो गोबरधन गरब मघवा हरन।
दास मीरा लाल गिरिधर अगम तारनतरन॥

(२)

बसो मेरो नैनन में नँदलाल।
मोहनि मूरति साँवरि सूरति नैना बने रसाल॥
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल अरुन तिलक दिये भाल।
अधर सुधारस मुरली राजति उर बैजंती माल॥
छुद्रघंटिका कटितट सोहति नूपुर सबद रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई भक्तबछल गोपाल॥

२५—कर्माबाई

मीराबाई की तरह भक्त, धर्मनिष्ठ और विदुषी रमणी और भी एक थीं। इनका नाम कर्माबाई था। भक्तमाल में इनकी संक्षिप्त जीवनी लिखी है। अब तक जगन्नाथपुरी में कर्माबाई की खिचड़ी का भोग लगता है।

यह दक्षिण सूबे के खाजल गाँव में उत्पन्न हुई थीं। इनके पिता परशुराम पंडित थे। वह राजा के पुरोहित थे। परशुराम बड़े भारी विद्वान् और वैष्णव थे। उन्होंने कन्या को भी बचपन से ही विष्णु-भक्त बना दिया था। शास्त्र का मर्म समझने और वैष्णव-धर्म का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये उन्होंने कन्या को अच्छी तरह शिक्षा

दी। कर्माबाई बचपन में ही विशेषरूप से विदुषी हो गईं। शिक्षा के साथ-साथ धर्म के ऊपर उनका विशेष अनुराग देख पड़ने लगा।

संसार-बंधन में बँधने के भय से कर्माबाई ब्याह नहीं करना चाहती थीं। किंतु पिता की आज्ञा से विवश होकर ब्याह करना ही पड़ा। जब तक पिता के घर में थीं तब तक किसी तरह का कष्ट नहीं था। दिन रात आनंदपूर्वक हरिभजन और देव-पूजा करके अपना समय बिताती थीं। किंतु स्वामी के घर में पैर रखते ही चारों ओर से अशांति ने घेर लिया। स्वामी के साथ घोर मनोमालिन्य का सूत्र पात हुआ। उनके स्वामी वैष्णव न थे, और घोर विषयी थे। कर्माबाई जब कुछ धर्म-कार्य करती थीं तो उसमें स्वामी की ओर से बाधा पड़ती थी। वह इस अत्याचार को अधिक दिन नहीं सह सकीं। स्वामी का संसर्ग छोड़कर पिता के पास रहने लगीं। कुछ दिन बाद फिर स्वामी उनको लेने आए। तब कर्माबाई बहुत ही घबरा उठीं।

स्वामी के हाथ से छुटकारा पाने का और उपाय न देखकर उन्होंने भाग खड़े होना ही युक्ति-युक्त समझा। बृन्दावन जाने का निश्चय कर लिया। रात के समय सोने की कोठरी से बाहर निकलीं। घर के द्वार बंद थे ; भागने के लिये कोई राह नहीं थीं। क्या करें ? ऊपर छत पर से नीचे फाँद पड़ीं। इस तरह घर से बाहर तो निकल आईं, लेकिन बृन्दावन की राह उनको नहीं मालूम थी। इस बारे में अधिक सोचने का मौक़ा भी नहीं था—जिधर जान पड़ा उधर ही जान लेकर भागीं।

सबेरे उठकर कन्या को घर में न देख परशुराम पंडित बहुत

चिंतित हुए। राजा के पास जाकर कन्या के चले जाने की बात कही। राजा ने पता लगाने के लिये चारों ओर अपने आदमी भेजे।

कर्माबाई एक मैदान नाँघ रही थीं, इसी समय पीछे उन्हें आदमियों का शोर-गुल सुन पड़ा। वह समझ गईं कि उन्हीं की खोज को लोग आ रहे हैं। मैदान ऊसर था, कहीं पेड़ वगैरह भी नहीं थे, जो छिप रहतीं। कोई उपाय न देखकर वह यथाशक्ति भागने लगीं। कुछ दूर पर एक मरे हुए ऊँट की लाश पड़ी दिखाई दी। सियार-कुत्ते वगैरह ने उसके पेट का मांस खाकर खोल कर दिया था। कर्माबाई उसी खोल में छिप रहीं। वह लोथ सड़-गल गई थी, भयानक दुर्गंध छाई थी। लेकिन कर्माबाई ने उधर ध्यान ही नहीं दिया।

राजा के जो आदमी कर्मा को खोजने जा रहे थे, उन्होंने जब उधर किसी को न देखा; तब दूसरी तरफ़ चले गए। उधर कर्माबाई भी उस लाश के भीतर से निकलकर आगे बढ़ीं। राह में न खाने को मिला, न सोने को, मगर वह सब तरह के कष्ट सहती हुई अंत को बृन्दावन में पहुँच ही गईं। बहुत दिनों की अभिलाषा पूर्ण हुई। वह बृन्दावन में ही रहने लगीं—जी भरकर कृष्ण की सेवा-पूजा और आराधना करने लगीं।

कन्या को न पाकर परशुराम बहुत ही व्याकुल हुए। वह खाजल गाँव छोड़कर कन्या की खोज में देश-विदेश घूमने लगे। अंत को वृन्दावन में आकर उन्होंने कर्माबाई को देख पाया। देखा, कर्माबाई आँखें मूँदे इष्टदेव का ध्यान कर रही हैं; उनके नेत्रों से प्रेम के आँसुओं की धारा बह रही है; एक दिव्य ज्योति जैसे उनके शरीर

को चारों ओर से घेरे है। कन्या की ऐसी देवीमूर्ति देखकर पिता ने भी भक्ति के साथ उनके सामने सिर झुकाया।

परशुराम ने कन्या से घर चलने के लिये बहुत कहा सुना, मगर कर्माबाई ने नम्रता के साथ अस्वीकार कर दिया। तब परशुराम आँखों के आँसू पोंछते हुए अपने गाँव को लौट गए। राजा के पास जाकर कन्या का सब हाल कहा।

राजा अत्यंत भगवद्भक्त थे। कर्माबाई की अनन्य कृष्ण-भक्ति का हाल सुनकर उनके दर्शन के लिये वह खुद वृन्दावन गए। उन्हें देख कर राजा बहुत प्रसन्न और संतुष्ट हुए। उन्होंने कर्माबाई के रहने के लिये वृन्दावन में एक कुटी बनवा देने की इच्छा प्रकट की। किंतु उससे धरती के भीतर रहनेवाले असंख्य जीवों की हत्या होगी, यह कहकर कर्माबाई ने नामंजूर कर दिया। मगर राजा ने उनका कहा न मानकर वहाँ एक कुटी बनवा दी। उस कुटी का ध्वंसावशेष अभी तक वृन्दावन में कर्माबाई के स्मारक-रूप में मौजूद है।

२६—लक्ष्मीदेवी

यह मिथिला के राजा चंद्रसिंह की रानी थीं। वहाँ लछिमा के नाम से ही अधिक परिचित हैं। इन्हें विद्या-चर्चा का बड़ा अनुराग था। इसी कारण अनेक मैथिल पंडित इनके यहाँ रहते और आश्रय पाते थे। 'विवादचंद्र' आदि ग्रंथों के लेखक मिसरू मिश्र और 'मिता-

क्षरा' की टीका बनानेवाले बालभट्ट ने इन्हीं के आश्रय में रहकर इन्हीं की पृष्ठपोषकता से विशेष प्रतिष्ठा पाई थी।

लक्ष्मीदेवी दर्शनशास्त्रों में विशेष व्युत्पन्न थीं। वह पंडितों के साथ दर्शनशास्त्रों के कूट प्रश्नों का विचार बड़ी खूबी के साथ करती थीं। उन्होंने खुद 'मिताक्षरा-व्याख्यान' नामक मिताक्षरा की टीका बनाई है। इस ग्रन्थ से इनकी विद्या-बुद्धि का पूर्ण परिचय मिलता है।

२७—प्रवीनराय

बुंदेलखंड ओरछा के राजा इंद्रजीतसिंह की सभा में कविकुल तिलक केशवदास ऐसे अनेक प्रसिद्ध पंडित और कवि रहा करते थे। विदुषी प्रवीनराय इंद्रजीतसिंह की प्रेयसी वेश्या और उनकी सभा का एक उज्ज्वल रत्न थीं। प्रवीनराय कविता भी लिखती थीं। इनकी कवित्व-शक्ति पर महाकवि केशवदास भी मुग्ध थे। राजसभा में और अन्य स्थानों में भी प्रवीनराय की कवित्व-शक्ति का विशेष सम्मान था। केशवदासजी ने इन्हीं के लिये अपना "कविप्रिया" ग्रंथ लिखा है।

थोड़े ही दिनों में प्रवीनराय की विद्वत्ता कवित्व-शक्ति और सौंदर्य दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गया। उस समय दिल्ली के बादशाह अकबर थे। अकबर के कानों तक जब प्रवीनराय की कीर्ति पहुँची तो उन्होंने इंद्रजीतसिंह को लिख भेजा कि वह तुरंत प्रवीनराय को दरबार में भेज दें। किन्तु मानी इंद्रजीतसिंह ने प्रवीनराय को अक-

बर के दरबार में नहीं भेजा। अकबर ने नाराज़ होकर इस विद्रोहा-चरण या हुक्मउदूली के लिये इंद्रजीतसिंह पर एक करोड़ रुपए का जुर्माना कर दिया। वह जुर्माना माफ़ कराने के लिये महाकवि केशवदास, जो कि इंद्रजीत के अभिन्न-हृदय मित्र भी थे, बीरबल के पास गए और उनकी प्रशंसा में एक छन्द बनाकर, जिसके अंत में था—"दियो करतार दुओ कर तारी", उनको सुनाया। बीरबल प्रसन्न हो गए। उन्होंने अकबर से कह सुनकर जुर्माने की रक़म माफ़ करा दी। मगर प्रवीनराय को अकबर के दरबार में हाज़िर होना पड़ा। प्रवीनराय ने अपनी और कविताओं के साथ, जिनमें अकबर की तारीफ़ थी, यह युक्ति-पूर्ण दोहा भी अकबर को सुनाया—

बिनती राय प्रवीन की, सुनिए शाह सुजान।
जूठी पतरी भखत हैं, बारी, बायस, श्वान॥

अकबर ने खुश होकर प्रवीनराय को इंद्रजीतसिंह के दरबार में लौट जाने की आज्ञा दे दी। इस तरह इस विदुषी रमणी ने अपनी अद्भुत प्रतिभा के कौशल से अपने धर्म की और साथ ही इंद्रजीतसिंह के मान की रक्षा की।

यह वेश्या के घर पैदा होकर भी अपने को पतिव्रता समझती थी। जन्म-भर इंद्रजीतसिंह के सिवा और किसी का मुँह इसने नहीं देखा। इसके प्रमाण में प्रवीनराय का एक सवैया यहाँ लिखा जाता है, जिसे उसने उस समय बनाकर इंद्रजीत को सुनाया था जब उसे अकबर ने बुलाया था।

आई हौं बूझन मंत्र तुम्हैं निज स्वासन सों सिगरी मति गोई।
देह तजौं कि तजौं कुल-कानि हिये न लजौं लजिहै सब कोई॥
स्वारथ औ परमारथ को गथ चित्त बिचारि कहौ तुम सोई।
जामें रहै प्रभु की प्रभुता अरु मेरो पतिव्रत भंग न होई॥

प्रवीनराय का समय संवत् १६५० के लगभग है।

२८—मधुरवाणी

तंजोर के राजा रघुनाथ बड़े ही विद्यानुरागी नरेश थे। उनकी राजसभा में अनेक विद्वान् पंडित थे। राजा उनके साथ काव्य, साहित्य और धर्मशास्त्र की आलोचना किया करते थे।

अनेक विदुषी रमणी भी राजसभा में स्थान पाती थीं। विद्वान् पुरुष और विदुषी रमणियाँ राजा को नित्य नवीन काव्य रचकर सुनाया करती थीं। विदुषी रमणियाँ भी पंडितों के साथ धर्मशास्त्र और काव्य-साहित्य की आलोचना किया करती थीं। इन सब रमणियों में मधुरवाणी विशेष प्रसिद्ध थीं। इनकी कविता बहुत मधुर होती थी। महाराज सब सभा के पंडितों की अपेक्षा इनका अधिक सम्मान करते और इनकी कविता सुनकर विशेष संतुष्ट होते थे।

एक दिन महाराज सैकड़ों विदुषी रमणियों और पंडितों के बीच सभा में बैठे थे। कोई रमणी उनको धर्म-संगीत सुनाती थी और कोई उनके आगे मधुर स्वर से रामायण पढ़ती थी। कारण, राजा अनन्य राम-भक्त थे। एक विदुषी रमणी उस दिन एक कविता रच-

कर लाई थीं। उसमें रामचंद्र के ऊपर महाराज की दृढ़ भक्ति का वर्णन था। कविता में जहाँ रामचंद्र की स्तुति थी, रामचंद्र के चरित्रों का वर्णन था, उस अंश को सुनते-सुनते राजा तन्मय हो गए। कविता समाप्त होने पर उन्होंने कहा—"मैं बराबर राम-चरित्र सुना करता हूँ, लेकिन जी नहीं भरता। जितनी दफे सुनता हूँ, नया ही जान पड़ता है, उतना ही आनंद मिलता है। मेरे सभा-पंडित और विदुषी महिलाएँ अनेक बार नवीन छंदों में रचकर मुझे राम चरित्र सुना चुके हैं, लेकिन उनकी रचना में जैसे किसी बात की कमी मुझे जान पड़ती है, जैसे वे सब बातें नहीं कह सके, पूर्णरूप से रामचंद्र के गुणों का वर्णन नहीं कर सके। मेरी इच्छा है कि कोई इस तरह राम-चरित्र का वर्णन करे, जिसमें वह कमी मुझे न जान पड़े।

राजा ने सब सभा-पंडितों को जमा करके नवीन रामायण-रचना का काम सौंपना चाहा। लेकिन स्त्री या पुरुष कोई भी इस काम का भार अपने ऊपर लेने का साहस न कर सका। महाराज ने उदास भाव से उस दिन दरबार बरख़ास्त किया।

उसी रात को राजा ने स्वप्न देखा कि जैसे साक्षात् श्रीरामचंद्र उनके सिरहाने खड़े कह रहे हैं कि राजन्, तुम उदास क्यों होते हो? सरस्वती के समान विदुषी मधुरवाणी तुम्हारी सभा में मौजूद हैं। उनके गान और कवित्व भक्ति से मैं भी संतुष्ट हूँ। उन्हीं को तुम रामायण रचने का काम सौंपो। वही इस काम के योग्य हैं।

दूसरे दिन राजा ने मधुरवाणी से स्वप्न का सब वृत्तांत कहा।

सुनकर मधुरवाणी ने कहा—राजाधिराज, श्रीरामचंद्र की आज्ञा मेरे लिये शिरोधार्य है। वह सहायक हैं तो मुझे कुछ दुविधा नहीं। अंतर्यामी रामचंद्र मेरी सब त्रुटियों को दूर कर देंगे।

मधुरवाणी ने संस्कृत में जो रामायण बनाई थी, वह ताल-पत्र पर लिखी हुई बंगलोर-मालेश्वर-वेद-वेदांत-मंदिर नामक पुस्तकालय में अभी तक सुरक्षित है। इसकी संपूर्ण प्रति नहीं प्राप्त हुई।

जितनी पुस्तक मिली है उसमें चौदह सर्ग हैं। इन चौदह सर्गों में विविध छंदों में रचे हुए डेढ़ हज़ार श्लोक हैं। पहले उपक्रम में ग्रंथकर्त्री ने महाराज रघुनाथ के लिये आशीर्वाद की प्रार्थना की है। उसके बाद बालमीकि, व्यास, कालिदास, वाणभट्ट, माघ आदि महा कवियों को प्रणाम और उनका सम्मान किया है। उसके बाद सुललित भाषा में राजा रघुनाथ की सभा का वर्णन है। फिर पूर्व-वर्णित इस ग्रंथ की रचना का कारण कहा गया है। राजसभा के वर्णन से मालूम होता है कि महाराज रघुनाथ की सभा में सैकड़ों विदुषी रमणी रहती थीं। यहीं पर प्रथम सर्ग समाप्त हुआ है। उसके बाद असल रामायण शुरू हुई है। इसमें यथाक्रम राम-चरित्र का वर्णन है।

मधुरवाणी में कवित्व शक्ति के सिवा और भी अनेक गुण थे। वह वीणा बहुत अच्छी बजाती थीं। उनका वीणा बजाना सुनकर भ्रम होता था कि साक्षात् सरस्वती देवी स्वर्ग से आकर वीणा बजा रही हैं। वह संस्कृत और तेलगू दोनों भाषाएँ बहुत अच्छी तरह जानती थीं। सुना जाता है, उनमें ऐसी क्षमता थी कि वह

बारह मिनट में एक सौ श्लोक रच सकती थीं। उन्होंने नैषध काव्य और कुमारसंभव की टीका भी बनाई थी। वह सत्रहवीं शताब्दी में जीवित थीं। उनके संबंध में इससे अधिक विवरण नहीं मिलता।

२९--मोहनांगिनी

यह दक्षिण प्रदेश के राजा कृष्णदयालु की कन्या थीं। लड़कपन में ही इनके पिता ने इनको सुशिक्षित कर दिया था। राजा रामदयालु के साथ इनका ब्याह हुआ था। ब्याह के बाद भी इनका अधिकांश समय ग्रंथ पढ़ने और नई भाषा सीखने में बीतता था। लड़कपन से ही यह कविता रचने लगी थीं, और जवानी में काव्य-रचना करके यशस्विनी हुई थीं। उन्होंने मरीचि-परिणय नाम का एक काव्य रचा था। इनके ग्रंथ का पंडित-मंडली में आदर भी हुआ था। सुन पड़ता है, यह अपने पिता की सभा में अपनी रचना पढ़कर सभा-पंडितों को मुग्ध बना देती थीं।

मोहनांगिनी भरी जवानी में विधवा हो गई थीं। स्वामी के साथ ही चिता पर बैठकर यह सती हो गईं।

३०--मल्ली

इनका भी जन्म दक्षिण-प्रदेश में ही हुआ था। राजा कृष्णदेव के समय साहित्य-क्षेत्र में यह यशस्विनी हो चुकी थीं। यह एक कुँभार की बेटी थीं। शिक्षा के ऊपर इन्हें बड़ा अनुराग था। यह

कविता रच सकती थीं। इनकी कविता मौलिक होती थी और उसमें प्रतिभा का पूर्ण विकास देख पड़ता था। सुन पड़ता है, यह नहाने के बाद बाल सुखाने के समय कविता लिखने बैठती थीं। इस तरह इन्होंने एक रामायण लिख डाली थी। इनकी रामायण इतनी प्रसिद्ध हो गई थी कि पंडितों ने उसे विद्यालय की पाठ्य पुस्तक चुना था।

३१—अभया

यह भी दक्षिण-प्रदेश में उत्पन्न हुई थीं। यह भगवान् नाम के एक ब्राह्मण की कन्या थीं। यह कैसी विदुषी थीं, इसका परिचय एक प्रवाद से ही मिलता है—लोग इन्हें देवी सरस्वती की कन्या कहते थे।

अभया के भाई-बहन सभी साहित्य-क्षेत्र में प्रतिष्ठा पा चुके थे। इनके भाई प्रतिभाशाली कवि प्रसिद्ध थे और बहनों का नाम भी कम न था। इनकी और बहनें भी कविता करती थीं। मगर यह सब में श्रेष्ठ मानी जाती थीं। ज्योतिष, विज्ञान, वैद्यक और भूगोल-विद्या में इनका ज्ञान असीम था। इन्होंने भूगोल-विषयक एक बहुत उत्तम ग्रंथ पद्य में लिखा था और ज्योतिष तथा विज्ञान की दो-एक पुस्तकें भी रची थीं। यह जीवन-भर क्वाँरी ही रहीं। देश-भर के पंडित इनकी विद्वत्ता के क़ायल थे और इनकी बड़ाई करते थे।

इनकी एक बहन का नाम उपागगा था। इन्होंने नीलपाटल नाम का एक ग्रंथ रचा था। भल्ली और मुरेगा नाम की दो बहनें इनके और थीं! वे अनेक खंड-काव्य और कविता लिखकर यशस्विनी हुई थीं।

३२–नाची

दक्षिण-प्रदेश में एलेश्वर उपाध्याय नाम के एक महा-पंडित थे। दर्शनशास्त्र, विज्ञान, वैद्यक और ज्योतिष में उन का ज्ञान असीम था। नाची उन्हीं की कन्या थीं। नाची थोड़ी ही अवस्था में विधवा हो गई थीं। उपाध्यायजी एक पाठशाला खोलकर देश के अनेक विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे। उनकी कन्या जब विधवा हो गई तब वह अपने शिष्यों के साथ कन्या को भी शिक्षा देने लगे। नाची की बुद्धि वैसी तीव्र नहीं थी और न वह वैसी मेधाविनी ही थीं। सहज में कोई विषय नहीं सीख पाती थीं, इसी कारण वह अपने मनमें बहुत दुःखित रहती थीं।

उपाध्यायजी के और भी कई शिष्य नाची की तरह अल्पबुद्धि थे। उनकी बुद्धि और स्मरण शक्ति तीव्र करने के लिये एलेश्वर उपाध्याय आयुर्वेद में खोज करने लगे। उन्होंने ज्योतिष्पति नाम की एक लता ढूंढ़ निकाली। उस लता का रस पीने से बुद्धि तीव्र और धारणाशक्ति अधिक हो जाती थी। उपाध्याय ने इसी लता का रस पिलाकर अनेक अल्पबुद्धि छात्रों को सहज में मेधावी बना दिया था। यह देखकर नाची ने एक दिन बहुत-सा उसी लता का रस पी लिया। वह रस अधिक मात्रा में पी लेने से विष का काम करता था। मगर नाची को यह हाल नहीं मालूम था।

रस अधिक पी लेने से नाची के शरीर में असह्य जलन पैदा हो गई। वह यंत्रणा से विह्वल होकर एक कूप में फाँद पड़ीं। उसमें वह

मूर्च्छितप्राय होकर आध घंटे तक पड़ी रहीं। उनके पिता इस घटना को जानते नहीं थे। कन्या के अकस्मात् ग़ायब हो जाने से व्याकुल होकर वह चारों ओर पता लगाने और नाची-नाची कहकर चिल्लाने लगे।

इतनी देर तक पानी में पड़े रहने से विष का असर कम हो चला था। नाची ने पिता की आवाज़ सुनकर कुएँ के भीतर से ही जवाब दिया। पिता ने आकर उन्हें बाहर निकाला। उसके बाद उस लता-रस के प्रभाव से नाची की मेधाशक्ति बहुत बढ़ गई। थोड़े ही दिनों में उन्होंने सब शास्त्र पढ़ लिए।

इसके बाद नाची खुद कविता रचने लगीं। उनकी कविताएँ भाव की मधुरता और भाषा की चतुरता के कारण बहुत अच्छी होती थीं। अंत को नाची-नाटक नाम से काव्य के आकार में अपना जीवन-चरित्र उन्होंने लिखा। उसमें उनके दुःख-पूर्ण वैधव्य जीवन का बहुत ही करुण वर्णन है।

अधेड़ अवस्था में नाची तीर्थयात्रा के लिये निकलीं, और अनेक देशों में घूमकर अनेक स्थानों के पंडितों से शास्त्रार्थ किया। इस तरह पंडितों को परास्त और दिग्विजय करती हुई वह पिता के पास फिर लौट आईं और वहीं उनकी मृत्यु हुई।

३३—विजया

यह कब उत्पन्न हुई थीं, इसका कुछ पता नहीं चलता। लेकिन इनकी कविता ऊँचे दर्जे की है ; यह कैसी विदुषी और कवि थीं, इसका पता एक श्लोक से चलता है, जो इनके संबंध में किसी कवि ने लिखा है। वह श्लोक यह है—

सरस्वतीव कार्णाटी विजयांका जयत्यसौ।
या वैदर्भगिरां वासः कालिदासादनंतरम् ॥

अर्थात्, कर्णाट देश की सरस्वती के समान विजया हैं। कालिदास के बाद वैदर्भी रीति इन्हीं की कविता में पाई जाती है। यह प्रशंसा एक स्त्री-कवि के लिये कम गौरव की बात नहीं है। इस श्लोक से यह भी पता चलता है कि यह कर्णाट देश की रहनेवाली थीं। इनकी कविता के दो-एक नमूने नीचे दिए जाते हैं—

आमोदैस्तैर्दिशिदिशि गतैर्दूरमाकृष्यमाणाः
साक्षाल्लक्ष्मीन्तव मलयज द्रष्टुमभ्यागताःस्म।
किं पश्यामः सुभग भवतः क्रीडति क्रोड एव
व्यालस्तुभ्यं भवतु कुशलं मुंच नः साधु यामः ॥१॥
वक्रतां बिभ्रतो यस्य गुह्यमेव प्रकाशते।
कथं न स समानः स्यात्पुच्छेन पिशुनः शुनः ॥२॥
सुमुखोऽपि सुवृत्तोऽपि सन्मार्गपतितोऽपि सन्।
सतां वै पादलग्नोऽपि व्यथयत्येव कंटकः ॥३॥

ग्रावाणो मणयो हरिर्जलचरो लक्ष्मीः पयोमानुषी
मुक्तौघाः सिकताः प्रवाललतिकाः शैवालमंभः सुधा ।
तीरे कल्पमहीरुहः किमपरं नाम्नापि रत्नाकरो
दूरे कर्णरसायनं निकटतस्तृष्णाऽपि नो शाम्यति ॥४॥
तप्ता मही विरहिणामिव चित्तवृत्तिः
तृष्णाध्वगेषु कृपणेष्विव वृद्धिमेति ।
सूर्यः करैर्दहति दुर्वचनैः खलो नु
छाया सतीव न विमुंचति पादमूलम् ॥५॥

हे मलयज चंदन, दूर-दूर तक हर एक दिशा में जानेवाली तेरी महक से आकृष्ट होकर तेरी लक्ष्मी अथवा शोभा को साक्षात् देखने के लिये हम आए हैं। मगर हम क्या देखें, तुम्हारी गोद में तो सर्प क्रीड़ा कर रहे हैं। भाई, तुम्हारी कुशल हो, हमें छोड़ दो, हम कुशल के साथ यहाँ से चले जायँ—यही बड़ी बात होगी। (यह चंदन के ऊपर डालकर किसी ऐसे राजा पर कहा गया है, जिसका नाम तो बड़ा है, लेकिन संगति दुष्टों की है)॥ १ ॥

जिसके टेढ़े होनेपर गुह्य स्थान (पक्षांतर में गुह्य बात) ही प्रकट होता है, वह पिशुन (चुगलखोर दुष्ट) कुत्ते की दुम के समान क्यों न हो ॥ २ ॥

कंटक (काँटा और पक्षांतर में शत्रु), सुमुख (अच्छे मुख-वाला) सुवृत्त (गोल और पक्षांतर में सच्चरित्र), अच्छी राह में

पड़ा हुआ और सज्जनों के पैर में लगा हुआ होने पर भी व्यथा ही पहुँचाता है ॥ ३ ॥

हे समुद्र, तेरे पत्थर मणियाँ हैं, जलचर जीव कच्छप आदि हरि का अवतार हैं, जलमानुषी लक्ष्मी हैं, बालू मोती के ढेर हैं, सेवार मूँगे की लता हैं, जल अमृत है, किनारे के पेड़ कल्पवृक्ष हैं, और क्या कहें, नाम भी रत्नाकर है। मगर दूर से कानों के लिये रसायन, ये सब बातें सुन पड़ने पर भी, निकट आकर देखा तो तुमसे प्यास भी नहीं बुझती, ऐसा खारी पानी है। यह भी अन्योक्ति है ॥ ४ ॥

गर्मियों में धरती विरहियों की चित्त-वृत्ति के समान तपी हुई है। राह चलनेवालों की प्यास सूम की तृष्णा के समान बढ़ती ही जाती है। सूर्य अपनी किरणों से वैसे ही जलाते हैं जैसे दुष्ट लोग दुर्वचनों से पीड़ा पहुँचाते हैं। छाया सती स्त्री की तरह चरणों से लगी रहती है ॥ ५ ॥

३४—विज्जका

इनके देश आदि का कुछ पता नहीं चलता और कोई ग्रंथ भी नहीं मिलता। लेकिन यह भी बड़ी विदुषी थीं और उसका इन्हें गर्व भी था। यह बात इन्हीं के रचित इस श्लोक से प्रकट होती है—

नीलोत्पलदलश्यामां विज्जकां मामजानता।

वृथैव दंडिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥

अर्थात् नील कमल-दल के समान श्याम वर्णवाली मुझ विज्जका

को बिना जाने दंडी कवि ने वृथा ही यह कह दिया कि सरस्वती एकदम श्वेतवर्ण हैं।

इससे दो बातें प्रकट होती हैं। एक यह कि यह श्याम वर्ण थीं और दूसरी यह कि इनको साक्षात् सरस्वती होने का दावा था। इनकी कुछ कविता नीचे लिखी जाती है—

छायासुप्तमृगः शकुंतनिवहैर्विष्टाविलुप्तच्छदः
कीटैरावृतकोटरः कपिकुलैः स्कंधे कृतप्रश्रयः
विश्रब्धं मधुपैर्निपीतकुसुमः श्लाघ्यः स एकस्तरु-
र्यत्रांगीकृतसत्वसंप्लवभरे भग्नापदोऽन्ये द्रुमाः ॥१॥
केनापि चंपकतरो वत रोपितोऽसि
कुग्रामपामरजनांतिकवाटिकायाम्।
यत्र प्ररूढनवशाकाविवृद्धिलोभात्
गोभग्नवाटघटनोचितपल्लवोऽसि ॥२॥
दृष्टिं ते प्रांतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति।
एकाकिन्यपि यामि तद्वनामितः स्रोतस्तमालाकुलं
नीरंध्राः स्तनमुल्लिखंति जरठच्छेदा नलग्रंथयः ॥३॥
कमालिनी मलिनी दयितं बिना
न सहते सह तेन च सवितुम्।
तमधुना मधुना निहितं हृदि
स्मरति सा रससारमहर्निशम् ॥४॥

किंशुककलिकांतर्गतमिंदुकलास्पर्द्धि केसरं भाति ।
रक्तनिचोलापिहितं धनुरिव जतुमुद्रितमनंगस्य ॥५॥
मेघैर्व्योम नवांबुभिर्वसुमती विद्युल्लताभिर्दिशो
धाराभिर्गगनं वनानि कुटजैः पूरैर्वृता निम्नगाः ।
एकां घातयितुं वियोगविधुरां दीनां वराकीं स्त्रियं
प्रावृट्काल हताश वर्णय कृतं मिथ्या किमाडंबरम् ॥६॥

अर्थात्, जिसकी छाया में मृग सोते हैं, जिसके पत्तों को पक्षी बीट करके नष्ट कर देते हैं, जिसके छेदों में कीड़े रहते हैं और डालों पर बंदर आश्रय पाते हैं, जिसके फूलों के रस को सुख से भौंरे पीते हैं, वही एक पेड़ प्रशंसनीय है। वह स्वयं सब जीवों को आश्रय देकर और उनके उत्पात सहकर अन्य वृक्षों को निरापद करता है। यह अन्योक्ति है ॥ १ ॥

हे चंपे के पेड़, खेद है कि किसीने तुझे नीच गाँव में गँवारों के बाग़ में लगा दिया है! वे गँवार नए निकले साग को बचाने के लिये तेरे पत्ते तोड़-तोड़कर गऊ आदि जानवरों को खिलाते हैं ॥२॥

हे परोसिन, घड़ी-भर तुम मेरे घर को भी देखते रहना। क्योंकि इस बच्चे का बाप कुएँ का खारी पानी नहीं पीता, इसीलिये मैं अकेली ही तमाल के पेड़ों के झुरमुट के भीतर बनी हुई बावली का पानी लेने जाती हूँ। वहाँ पेड़ ऐसे सटे हुए हैं कि कटे हुए नरकुल के पेड़ों के खोंचों से स्तन छिल जाते हैं। यह स्वयंदूती अथवा वाग्विदग्धा नायिका है जो अपने उपपति को संकेत-स्थान का इशारा करती है ॥ ३ ॥

कमलिनी अपने प्यारे सूर्य के बिना मलिन हो रही है। वसंत के द्वारा हृदय में निहित रससार को इस समय स्मरण करके वह विकल हो रही है ॥ ४ ॥

टेसू की कली के भीतर चंद्रकला से स्पर्धा करनेवाला केसर लाल वस्त्र से ढके हुए कामदेव के जतुमुद्रित धनुष के समान शोभायमान है। वसंत, वर्णन है ॥ ५ ॥

कोई विरहिणी वर्षा ऋतु से कहती है कि तूने अकेली एक मुझ विरह की मारी हुई अबला को मारने के लिये बेकार इतना आडंबर क्यों किया है कि आकाश में बादल छाए हैं, पृथ्वी नवीन जल से परिपूर्ण हो रही है, दिशाओं में बिजली की चमक छाई है, अंतरिक्ष जल-धाराओं से परिपूर्ण हो रहा है, बनों में कामोद्दीपक कुटज-पुष्पों की महक छाई हुई है, और नदियाँ वेगवती और जल-प्रवाह से परिपूर्ण हो रही हैं। इतनी तैयारी की क्या ज़रूरत है? मैं तो विरह ही से मर रही हूँ! ॥ ६ ॥

३५–शीलाभट्टारिका

मालूम नहीं यह किस देश में कब हुईं। इनके दो-तीन श्लोक शार्ङ्गधर की पद्धति के संग्रह में मिलते हैं। वे श्लोक आगे लिख दिए गए हैं। मुसल्मानों के राजत्वकाल में अथवा यों कहो कि जब-जब उन्होंने चढ़ाई की तब-तब संस्कृत-साहित्य के अनेक दुर्लभ ग्रंथ-रत्न

जलाकर नष्ट-भ्रष्ट कर दिए। कौन कह सकता है कि हमारे देश की प्रतिभा के कितने श्रेष्ठ फल इस तरह सदा के लिये मिटा दिए गए!

शीलाभट्टारिका कोई राजकुमारी जान पड़ती हैं। कारण भट्टारिका भर्तृदारिका शब्द का अपभ्रंश है। भर्तृदारिका शब्द प्रायः राजकुमारियों के संबोधन में प्रयुक्त हुआ करता था।

कुछ भी हो, नीचे उनकी कविता के नमूने दिए जाते हैं—

पार्यंकः स्वास्तरणः पतिरनुकूलो मनोहरं सदनम्।
तृणमिव लघु मन्यंते कामिन्यश्चौर्यरतिलुब्धाः ॥१॥
दुर्दिवसे घनतिमिरे दुःसंचारासु नगरवीथीषु।
पत्युर्विदेशगमने परमसुखं जघनचपलायाः ॥२॥
यः कौमारहरः स एवहि वरः ता एव चैत्रक्षपाः
तेचोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदंबानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसी तरुतले चेतः समुत्कंठते ॥३॥

इन श्लोकों में अश्लील चरित्र का वर्णन है, इसीलिये इनका हिंदी-अनुवाद नहीं दिया गया। क्योंकि उस समय यह वर्णन चाहे अश्लील न समझा जाता हो, लेकिन इस समय रुचिविगर्हित अवश्य समझा जायगा। संस्कृतज्ञ पाठक अनायास ही समझ लेंगे।

३६—गुलबदन बेगम

भारत में आकर राज्य करनेवाले बादशाहों और प्रतिष्ठित नवाबों अमीर उमराओं की बहू-बेटियों में भी पढ़ने-लिखने का ख़ासा चलन था। तात्पर्य यह कि मुसलमान-समाज भी स्त्री-शिक्षा का पक्षपाती था। शाहों—नवाबों—अमीरों की बेटियाँ-बहनें शिक्षा पाती थीं। उनमें से अनेक स्त्रियाँ काव्य, इतिहास आदि लिखकर यशस्विनी और प्रसिद्ध भी हुई हैं। मुसल्मान-समाज में अनेकों स्त्रियाँ इस समय भी सुशिक्षिता प्रतिभाशालिनी मौजूद हैं।

गुलबदन बेगम दिल्ली के बादशाह बाबर की लड़की और बादशाह अकबर की बहन थीं। उनके भाई हुमायूँ थे। गुलबदन बेगम हुमायूँ के साथ रहकर भारतवर्ष के अनेक स्थानों में घूमी थीं। वह बड़ी बुद्धिमती थीं। हुमायूँ सल्तनत के अनेक काम उनकी सलाह लेकर करते थे। वह भाई के सुख-दुःख में सदा सहायता करती साथ ही रहीं। लड़ाई आदि के समय भी वह हुमायूँ के साथ ही रहती थीं।

गुलबदन ने हुमायूँनामा नाम की एक पुस्तक लिखी है। इस ग्रंथ में हुमायूँ की विस्तृत जीवनी और उनके समय की प्रधान-प्रधान घटनाएँ सुंदर ढंग से सुशृंखला के साथ लिखी हैं। सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक बेवरिज साहब की स्त्री ने अँगरेज़ी में हुमायूँनामा का अनुवाद करके इतिहास में गुलबदन बेगम का नाम चिरस्मरणीय बना दिया है।

———

३७—जेबुन्निसा बेगम

जेबुन्निसा दिल्ली के प्रतापी मुग़ल बादशाह औरंगजेब की लड़की थीं। इनकी माता भी किसी मुसल्मान राजा की लड़की थीं। औरंगजेब जेबुन्निसा को बहुत चाहते थे। लड़कपन में ही जेबुन्निसा की श्रेष्ठ प्रतिभा का परिचय पाकर बादशाह ख़ुद उन्हें शिक्षा देने लगे थे।

जेबुन्निसा की स्मरण-शक्ति बहुत तेज़ थी। थोड़ी ही अवस्था में सारा कुरान कंठ करके जेबुन्निसा ने बाप को सुनाया था। इससे औरंगजेब को इतनी प्रसन्नता हुई कि उन्होंने कन्या को उसी समय तीस हज़ार अशर्फ़ियाँ इनाम में दे दीं।

जेबुन्निसा में जैसा अतुलनीय रूप था, वैसी ही वह सुघर, समझदार, दयालु, गुणी और गुण की क़द्र करनेवाली भी थीं। उनमें स्वाभाविक प्रतिभा थी। किंतु विपुल राजसी ऐश्वर्य और विलास की गोद में पलकर भी उन्होंने कभी ईश्वर की दी हुई उस प्रतिभा का अपव्यय नहीं किया। सुशिक्षा और अपने अध्यवसाय से उन्होंने उस प्रतिभा को विकसित किया और सन्मार्गगामिनी बनाया।

वह अनेकों बातों में उस समय के समाज से आगे बढ़ गई थीं। यह बात उनकी-सी रमणी के लिये कम गौरव की बात नहीं है। अर्बी और फ़ार्सी-भाषा में जेबुन्निसा की विशेष गति थी। कहा जाता है, उनके हाथ के अक्षर भी बहुत सुंदर होते थे। वह कई ढंग की

लिखावट लिख सकती थीं। उनमें पुस्तक पढ़ने का अनुराग भी प्रशंसनीय था। उनके भारी पुस्तालय में धर्म और काव्य-साहित्य के बहुत-से ग्रंथ जमा थे।

लड़कपन में ही जेबुन्निसा की कवित्व-शक्ति विकसित हो उठी थी। उन्होंने कई काव्य ग्रंथ लिखे हैं। गद्य-रचना में भी उन्हें कम दखल नहीं था। रुचि का परिमार्जित होना और भाषा की मधुरता ही उनकी रचना की विशेषता है। उनकी कविताओं को आज भी मुसलमान विद्वान् बड़े शौक़ से पढ़ते-सुनते हैं।

जेबुन्निसा में केवल विद्या का ही अनुराग न था। वह शिक्षित और गुणी लोगों की यथेष्ट सहायता करके उनको उत्साह भी देती रहती थीं। उन्हीं की आर्थिक सहायता से पलकर अनेक धार्मिक, कवि और लेखक अपना गुज़र करते थे और निश्चिंत होकर तन-मन से अपने काम में लगकर यशस्वी हो सके थे।

मुल्ला शफ़ीउद्दीन अरज़बेग ने कश्मीर में रहकर "तफ़सीरे काबिर" नामक ग्रंथ का तर्जुमा किया था। यह भी जेबुन्निसा के अनुग्रह का फल था। अरज़बेग ने कृतज्ञता प्रकट करने के लिये ग्रंथ का नाम "ज़ेबुन्तफ़सीर" रक्खा था। इनके सिवा और भी कई ग्रंथकारों ने जेबुन्निसा के नाम पर अपने ग्रंथों का समर्पण किया था। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि उस समय शिक्षित समाज में जेबुन्निसा की साधारण प्रतिष्ठा नहीं थी।

राजनीति के क्षेत्र में भी जेबुन्निसा की यथेष्ट ख्याति थी। उन्होंने विशेष आग्रहके साथ राजनीति शास्त्र का अध्ययन किया था। राज-

काज में औरंगज़ेब की बहन रोशनआरा ही पहले औरंगज़ेब के प्रधान सहायकों में थीं। उनके मरने के बाद उनकी जगह लेकर ज़ेबुन्निसा ने ही पिता पर अपना प्रभुत्व जमा रक्खा था। औरंगज़ेब अपनी बुद्धिमती कन्या से सलाह लिये बिना कभी किसी गुरुतर कार्य में हाथ नहीं डालते थे।

ज़ेबुन्निसा जिस समय २५ वर्ष की थीं, उस समय एक बार औरंगज़ेब बहुत बीमार हो गए। उस समय स्नेहमयी कन्या ने औरंगज़ेब से आबहवा बदलने के लिये कश्मीर जाने को कहा। कन्या की सलाह युक्तियुक्त होने पर भी, पहले औरंगज़ेब इस प्रस्ताव से सहमत नहीं हुए। कारण, वृद्ध शाहजहाँ तब तक आगरे के क़िले में क़ैद थे। मैं अगर कश्मीर चला जाऊँगा तो उस सुयोग में राज्य के भीतर कोई साज़िश न की जाय, यह सोचकर संदिग्धचित्त औरंगज़ेब ने उस समय एकबार पिता को मरवा डालने का इरादा भी किया था। मगर यह पहले ही कहा जा चुका है कि ज़ेबुन्निसा से पूछे बिना वह कभी कोई बड़ा काम नहीं कर डालते थे। ज़ेबुन्निसा को जब पिता का यह निष्ठुर विचार मालूम हुआ तब उन्होंने ही औरंगज़ेब को समझा-बुझाकर—ऊँचा-नीचा सुझाकर—इस कुकर्म से निवृत्त किया।

शीघ्र ही शाहजहाँ मर गए। तब औरंगज़ेब भी निश्चिंत होकर कश्मीर सिधारे। ज़ेबुन्निसा भी पिता के साथ गईं। वह जब तक जीती रहीं, सदा पिता के पास रहकर उन्हें कर्तव्य का उपदेश करती रहीं।

ज़ेबुन्निसा मन में शिवाजी को प्यार करने लगी थीं। असल बात यह थी कि लोगों के मुँह से शिवाजी की वीरता का बखान सुनकर वह उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगी थीं।

जिस दिन राजा जयसिंह के भुलावे में पड़कर शिवाजी औरंगज़ेब के साथ अपने राजनैतिक झगड़े तय करने के लिये दिल्ली के आम-दरबार में आकर उपस्थित हुए, उसी दिन चिलमन की आड़ से पहले-पहल ज़ेबुन्निसा ने उनको देखा।

औरंगज़ेब, जिसके प्रताप से सारा भारतवर्ष उस समय थर-थरा रहा था, उसीके सामने जब शिवाजी निर्भयता के साथ आकर खड़े हुए, तब मुग्ध दृष्टि से ज़ेबुन्निसा उनकी वह अटल मूर्ति, निर्भीक भाव, प्रतिभा-प्रदीप्त तीव्र दृष्टि, तेजस्वी ढंग देखने लगीं। आज तक कल्पना के द्वारा हृदय में जिस वीर की पूजा करती थीं, उसी आराध्य देवता को आँखों के आगे देखकर ज़ेबुन्निसा का हृदय निःस्वार्थ पवित्र स्वर्गीय प्रेम से परिपूर्ण हो उठा। उनका हृदय पुष्पांजलि के समान आप ही आप महाराष्ट्र वीर के चरणों में लोट गया।

बादशाह के दरबार में शिवाजी को जितना सम्मान मिलना चाहिए था, वह कूटबुद्धि औरंगज़ेब ने उन्हें नीचा दिखाने के लिये जान बूझकर नहीं दिया। शिवाजी सब समझ गए; वह क्रुद्ध सिंह की तरह मन ही मन गरजने लगे। मुसाहब और दरबारी लोग शिवाजी का अपमान और उनका मानसिक क्षोभ देखकर मुसकिराने लगे मगर उदारहृदया रमणी ज़ेबुन्निसा की आँखों से आँसू निकल

पड़े। अपने प्रेमपात्र का अपमान देखकर वह साधारण स्त्रियों की तरह रोने नहीं लगीं। सर्वसाधारण के सामने अत्यंत निर्दयता के साथ वीर के अपमान का अन्याय देखकर उनका हृदय दुःख और निष्फल क्षोभ से उमड़ पड़ा।

दरबार बर्ख़ास्त होने पर ज़ेबुन्निसा ने औरंगज़ेब के सामने जाकर अत्यंत अभिमान-पूर्ण दृढ़ स्वर से कहा—जहाँपनाह, भरे-दरबार में बहादुर की बे-इज़्ज़ती करना अच्छा नहीं हुआ।

बात पूरी होनेके पहले ही उनकी आँखों में आँसू भर आए, कंठावरोध हो गया।

औरंगज़ेब ने विस्मय के साथ तीक्ष्ण दृष्टि से कन्या के मुँह की ओर देखा। असल बात समझने में देर नहीं लगी। औरंगज़ेब कन्या को बहुत चाहते थे। क्रोध दबाकर कूटमति औरंगज़ेब ने कहा—समझ गया, शैतान के फंदे में पैर डाल चुकी हो! अच्छी बात है, वह काफ़िर अगर पाक दीन-इस्लाम क़बूल कर ले तो मैं उसके सब क़सूर माफ़ करके तुम्हें ब्याह की इजाज़त दे दूँगा।

सुनकर ज़ेबुन्निसा शर्म से जैसे मर गईं। वह अपने सुख की इच्छा से ब्याह की अनुमति लेने पिता के पास नहीं आई थीं; वीर के अपमान का प्रतिविधान करवाने आई थीं वह इस बात को भी। फिर अच्छी तरह पिता से नहीं कह सकीं। वह मन ही मन केवल अपने को धिक्कार देने लगीं कि मुझे धिक्कार है! हृदय के भीतर छिपी हुई गुप्त बात को मैं छिपाकर नहीं रख सकी! केवल स्वार्थ ही प्रकट कर दिया!

उसी दिन से ज़ेबुन्निसा अपने प्रेम को अत्यंत संकोच के साथ गुप्त रूप से हृदय के भीतर छिपाए रखने लगीं। अपने मन का भाव फिर उन्होंने कभी किसी के आगे प्रकट नहीं होने दिया।

वह शिवाजी को पानेके लिये कभी पागल नहीं हुईं। उन्होंने शिवाजी का प्रेम पाने की आशा को कभी भूलकर भी अपने हृदय में स्थान नहीं दिया। ज़ेबुन्निसा के निःस्वार्थ प्रेम ने कभी बदला नहीं चाहा। वह शिवाजी के शारीरिक सौंदर्य को जितना नहीं चाहती थीं, उतना उनकी वीरता, देशभक्ति और तेज को चाहती थीं। वह शत्रु की कन्या—विधर्मी मुसल्मान की बेटी—थीं। उनके साथ ब्याह करने में शिवाजी का वह तेज कम होने का ख़याल भी उनके हृदय में बर्छी का सा घाव करता था। इसी ख़याल से कभी उन्होंने किसी सूत्र से शिवाजी को अपने हृदय का भाव नहीं जानने दिया। उन्होंने कभी शिवाजी के निकट प्रेम की भिक्षा नहीं माँगी। उन्होंने शिवाजी को महत्त्व के जिस उच्च शिखर पर खड़े देखा था, अपनी तृप्ति के लिये उस जगह से उन्हें भ्रष्ट देखने की आकांक्षा को कभी मन में स्थान नहीं दिया। वह शिवाजी को प्यार करती थीं और पूजती थीं।

ज़ेबुन्निसा की लिखी कविताओं में उनके जीवन की यह करुण कथा—इस निष्फल प्रेम का इशारा—स्पष्ट देख पड़ता है। सहृदय कवि साहित्य-राज्य में अपने हृदय को नहीं छिपा सका।

ज़ेबुन्निसा की कविता में उनके प्रेम की व्यर्थता सुंदर रूप से प्रकट हुई है। कविता की हरएक पंक्ति में एक स्निग्ध निराश प्रेम

की झलक पाई जाती है। नमूने के तौर पर कुछ पद्य नीचे लिखे जाते हैं—

गर्चे मन् लैली असासम्, दिलचु मजनूं दर हवास्त।
सर बसहरा मीज़नं; लेकिन हया ज़ंजीर पास्त ॥१॥
बुलबुल अज़ शागिर्दियं शुद हमनशीने गुल बबाग़।
दरमोहब्बत क़ाबिलं, पर्वाना हम शागीर्द मास्त ॥२॥
दर निहां ख़ूनेमज़ाहिर गर्चे रंगे नाज़ुकं।
रंगे मन् दर मन् निहां चूं रंग सुर्ख़ अंदर हिनास्त ॥३॥
दुख्तरे शाहं वले रूहे, मुसाफ़िर अबादि अं।
ज़ेबो-ज़ीनत बस हमींनं नामे मन् ज़ेबुन्निसास्त ॥४॥

अर्थात्, यद्यपि मैं लैली के जिस्म में हूँ, लेकिन मेरा दिल मजनू की तरह ख्वाहिशमंद है। मैं चाहती हूँ कि मजनूँ की तरह मैं भी जंगलों में सर टकराती फिरूँ; लेकिन मेरे पैरों में हया (शर्म) की ज़ंजीर पड़ी हुई है, इसीसे विवश हूँ ॥ १ ॥

यह जो बुलबुल दिन-भर बाग़ में फूल के इर्द-दिर्द घूम-घूम कर प्रेमालाप कर रही है, सो इसने मेरी ही शागिर्दी की है। यह जो इस फ़ानूस के भीतर साफ़ रोशनी है, उसमें आत्म-विसर्जन करनेवाले पतंग ने वह आत्म-त्याग मुझसे सीखा है ॥ २ ॥

मेहँदी के पत्ते के बाहर की स्निग्ध श्यामलता में जैसे उसके भीतर का लाल रंग ढका रहता है, वैसे ही मेरे हृदय में प्रेम का रंग छिपा हुआ है ॥ ३ ॥

मैं बादशाह की कन्या हूं, लेकिन मेरी आत्मा हमेशा मुसाफ़िर की तरह है। धन-ऐश्वर्य मुझे तुच्छ-सा जँचता है। मैं ज़ेबुन्निसा (अर्थात् श्रेष्ठ सुंदरी) हूँ; यही गौरव मेरे लिये काफ़ी है ॥ ४ ॥

गुफ्तं अज़ इश्क़ेबुतां ऐ दिल चे हासिल कर्दई।

गुफ्तमारा हासिले ज़ुज़ नालहाये हेचनेस्त ॥५॥

मैंने दिल से कहा कि ऐ दिल, तूने बुतों के इश्क़ में क्या पाया? दिल ने कहा—आँसू बहाने के सिवा और कुछ नहीं ॥ ५ ॥

हरके आमद दर जहां, आख़िर बमतलबहा रसीद।

पीर शुद ज़ेबुन्निसा, ओरा ख़रीदारे न शुद ॥६॥

जो कोई संसार में आया यह अंत को उद्देश्य सिद्ध कर ले गया; लेकिन ज़ेबुन्निसा बुड्ढी हो गई, पर उसके तईं कोई खरीदार नहीं मिला ॥ ६ ॥

ज़ेबुन्निसा की और तरह की कविताओं में भी बहुत सुंदर कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है।

अगर दुश्मन दुता गर्दद, ज़े ताज़ीमश मशोग़ाफ़िल।

कमां चंदां के ख़म गर्दद, बकारश कारगर आयद ॥७॥

अगर शत्रु तुम्हारे आगे झुके, तो तुम उसकी नम्रता में भूल न जाओ, ग़ाफ़िल न हो। कमान जितनी टेढ़ी झुकती है, उतनी ही वह अपने काम में कारगर होती है ॥ ७ ॥

———

३८—राममणि, इंदुमुखी, माधुरी, रसमयी, गोपी

बँगला-भाषा में लिखित बँगालियों के काव्य-इतिहास आदि में भी अनेक विदुषी रमणियों का परिचय मिलता है। प्राचीन वैष्णव-ग्रंथों में स्त्री-कवियों के बनाए अनेक पद बँगला-भाषा को अलंकृत किए हैं।

राममणि सबसे प्राचीन स्त्री-कवि हैं। यह प्रसिद्ध प्राचीन बंगाली कवि चंडीदास के समय में थीं। इन्होंने जो पद बनाए हैं, उनमें राधा-कृष्णकी लीलाओं का वर्णन है।

यह धोबी की कन्या थीं। यह भूख की मारी असहाय अवस्था में घूमती-घूमती वीरभूम-ज़िले के नान्नुर गाँव में बने हुए विशालाक्षी देवी के मंदिर में पहुँची। चंडीदास इस मंदिर के पुजारी थे। राममणि की दशा देखकर इन्हें दया आ गई और इन्होंने राममणि को दासी का काम देकर मंदिर में रख लिया। राममणि देवी का प्रसाद खाकर वहीं रहने लगीं। चंडीदास ने अपनी कविता में राममणि का हाल लिखा है।

कहा जाता है, चंडीदास राममणि को बहुत चाहते थे, और राम-मणि भी चंडीदास को चाहती थीं। मगर इनका प्रेम पवित्र ही था, उसमें कोई कुभाव नहीं था। चंडीदास ने अपनी कविता के बीच भाव के आवेश में आकर रामी को गुरु और माता लिखा है।

चंडीदास को धोबिन के प्रेम में आसक्त कहकर गाँव के ब्राह्मणों

ने उन्हे जाति-च्युत कर दिया था, और देवी की पूजा का काम भी उनसे ले लिया गया था। लेकिन इससे उनका विशुद्ध प्रेम कम होने के बदले और भी बढ़ गया।

× × ×

रामी के सिवा इंदुमुखी, माधुरी, गोपी और रसमयी का नाम भी विशेष उल्लेख-योग्य है। इनके जीवन चरित का कुछ भी सामान नहीं मिलता। केवल इनके रचे पदों के 'संभोग' में इनका नाम पाया जाता है। इनके सिवा और भी अनेक विदुषी स्त्रियों के रचे वैष्णव-धर्म के भजन आदि हैं।

३९—माधवी

माधवी नीलाचल में रहती थीं। बँगाल के चैतन्यदेव के जीवन चरित—चैतन्यचरितामृत—में इनका हाल लिखा है। महाप्रभु चैतन्यदेव जब दक्षिण-प्रदेश में घूमते हुए नीलाचल पहुँचे उसी समय माधवी ने उनके दर्शन पाए थे। उसी समय से माधवी के हृदय में भगवत्प्रेम का आविर्भाव हुआ, और वह एक श्रेष्ठ भक्त हो उठीं। चैतन्यदेव ने जब से संन्यास-व्रत धारण किया था, तब से वह स्त्री का मुख नहीं देखते थे ; इसी कारण माधवी उनके सामने नहीं जा सकती थीं। वह छिपकर आड़ से कृष्ण-प्रेम में आत्मविस्मृत चैतन्यदेव का स्वरूप देखकर खुद भी आत्मविस्मृत-सी हो जाती थीं।

पदकल्पतरु ग्रंथ में माधवी देवी के बनाए अनेक पद हैं। वे पद भाषा, भाव और भावोच्छ्वास में अत्यंत सुंदर होने के कारण बँगला-भाषा के अलंकार हैं।

जगन्नाथ-मंदिर का दैनिक विवरण लिखने के लिये वहाँ एक लेखक रहा करता था। माधवी के अक्षर बहुत सुंदर बनते थे, इसी-लिये उनकी रचना के माधुर्य और पांडित्य पर मुग्ध तत्कालीन राजा प्रतापरुद्र ने उन्हें, स्त्री होने पर भी, यह सम्मान का पद दिया था। यह हाल भी चैतन्यचरितामृत में लिखा है।

माधवी की कविता प्रसिद्ध बंगाली-कवि बलरामदास, गोविंद-दास, वासुदेव घोष आदि की कविता से किसी अंश में निकृष्ट नहीं होती थी।

४०—आनंदमयी

आनंदमयी देवी फ़रीदपुर-ज़िले के अंतर्गत जगसा-गाँव के रहने-वाले प्रसिद्ध कवि और साधक पंडित रामगति राय की कन्या और पयोग्राम के पंडित कवींद्र अयोध्याराम की पत्नी थीं।

आनंदमयी ने अपने पिता से ही बँगला और संस्कृत की शिक्षा पाई थी। धर्म-शास्त्र का उन्हें विशेष ज्ञान था। विदुषी होने के कारण उनकी प्रतिष्ठा भी खूब थी।

आनंदमयी की विद्वत्ता के बारे में दो-एक प्रवाद प्रचलित हैं। राजनगर-निवासी सुप्रसिद्ध कृष्णदेव विद्यावागीश के पुत्र हरि विद्या-लंकार ने आनंदमयी को एक शिव-पूजा की पद्धति लिखकर दी थी।

विद्यालंकार का लेख भ्रम-पूर्ण और जगह-जगह पर अशुद्ध भी था। आनंदमयी ने वह पद्धति देखकर विद्यालंकार के पिता विद्यावागीश को तिरस्कार करके लिख भेजा कि आप अपने पुत्र की शिक्षा पर कुछ भी ध्यान नहीं देते ! संस्कृतशास्त्र में विशेष अभिज्ञता हुए बिना विद्यालंकार के लेख की सूक्ष्म भूलें आनंदमयी की नज़र में नहीं पड़ सकती थीं।

एक समय राजा राजवल्लभ ने पडित रामगति के पास आदमी भेजकर अग्निष्टोम-यज्ञ के प्रमाण और उसके यज्ञकुंड की आकृति माँग भेजी। रामगति उस समय एक पुरश्चरण कर रहे थे। इसी कारण उस समय वह ख़ुद यह कार्य नहीं कर सकते थे। कन्या की विद्वत्ता और जानकारी के ऊपर उनका दृढ़ विश्वास था। उन्होंने अपनी कन्या को ही यह काम सौंप दिया। तब आनंदमयी ने यज्ञ के प्रमाण और यज्ञकुंड का आकार वगैरह शास्त्र में देखकर लिख दिया, और राजा का आदमी उसे ले गया। रामगति राय उस समय के बड़े और श्रेष्ठ पंडित थे। उनका बताया अग्निष्टोम का प्रमाण और यज्ञकुंड की आकृति विशुद्ध और सर्वमान्य होगी, यह समझकर ही राजा ने उनके पास अपना आदमी भेजा था। परंतु वह ख़ुद आप यह काम नहीं कर सके, और उनकी कन्या ने लिख दिया। किंतु राजसभा के पंडितों ने उसी को बिना किसी आपत्ति के विशुद्ध मान लिया। इसी से जाना जा सकता है कि आनंदमयी का शास्त्र-ज्ञान पिता से कम नहीं था, और इस वारे में राजसभा के पंडितों को भी रत्ती-भर संदेह नहीं था।

आनंदमयी कोरी विदुषी ही नहीं, एक श्रेष्ठ कवि भी थीं। वह कई खंड-काव्य लिखकर अपनी मातृभाषा को अलंकृत कर गई हैं। आनंदमयी के चाचा जयनारायण राय एक अच्छे कवि थे। कहा जाता है, जयनारायणरचित "हरि-लीला" में बहुत-सी रचना आनंदमयी की है। आनंदमयी की रचना जगह-जगह खूब पांडित्य और शब्दाडंबर से परिपूर्ण है। उनकी रचना का शब्द-विन्यास देखकर ही यह जाना जा सकता है कि संस्कृत भाषा में उनका विशेष अधिकार था। दुःख का विषय यह है कि उनकी सब रचना आजकल नहीं मिलती।

हरिलीला के अलावा जयनारायण-रचित चांडीकाव्य में भी आनंदमयी की रचना शामिल है। आनंदमयी-रचित "उमार विवाह" (उमा का ब्याह) बंगाल में विशेष प्रसिद्ध और प्रचलित है। अनेक स्त्रियोंको तो वह आदि से अंत तक कंठ है।

४१—गंगामणि

आनंदमयी देवी की एक विदुषी बुआ थीं, उन्हीं का नाम गंगामणि था। छोटी-छोटी कविता और विवाह के समय गाने लायक अनेक सुंदर-सुंदर गान इन्होंने रचे हैं। बहुत दिन तक बँगालियों के यहाँ स्त्रियाँ इनके बनाए गीत गाती रही हैं! इस नवीन रुचि के ज़माने में भी दो-एक बुड्ढी औरतों के मुँह से इनके बनाए गीत सुन पड़ते हैं। इन्होंने सीता के ब्याह का विषय लेकर एक खंड-काव्य भी बनाया था।

४२—वैजयंती

फ़रीदपुर-ज़िले के धनुका-गाँव में, वैदिक कृष्णत्रेय गोत्र में, सुपंडित मयूरभट्ट के वंश में, वैजयंती देवी का जन्म हुआ था। जब बहुत ही बचपन था, तभी से विद्या-शिक्षा के ऊपर वैजयंती को बड़ा अनुराग था। वैजयंती जब अच्छी तरह बोल नहीं सकती थीं, तभी से वह अपने पिता के घर की पाठशाला में विद्यार्थियों की तरह हाथ में पोथी लेकर पढ़ने का खेल खेला करती थीं। वैजयंती के पिता ने पढ़ने के लिये कन्या का यह अद्‌भुत अनुराग देखकर उन्हें पढ़ाने-लिखाने का इरादा कर लिया, और कुछ समय बाद वह उन्हें आप पढ़ाने लगे।

सुना जाता है, बहुत थोड़े ही समय में वैजयंती ने अक्षर पह-चान लिए, और कुछ ही वर्षों में संस्कृत-भाषा में विशेष व्युत्पत्ति प्राप्त कर ली। काव्य और व्याकरण की शिक्षा समाप्त हो जाने पर वैजयंती ने दर्शन-शास्त्र पढ़ना शुरू किया। उनके पिता जिस समय छात्रों को दर्शन-शास्त्र की शिक्षा देते थे, उस समय वैजयंती अत्यंत आग्रह के साथ उसे सुनती थीं, और गुरु-शिष्य के बीच दर्शन-शास्त्र से संबंध रखनेवाले जितने तर्क उठते थे, उनकी मीमांसा को वह बड़े यत्न के साथ स्मरण रखती थीं।

कोटालीपाड़ा के दुर्गादास तर्कवागीश के पुत्र पंडित कृष्णनाथ के साथ वैजयंती का व्याह हुआ। दुर्गादास तर्कवागीश वंश-मर्यादा में वैजयंती के पिता से श्रेष्ठ थे। इसी कारण उनके पुत्र के साथ

वैजयंती का ब्याह नहीं हो सकता था। लेकिन उन्होंने केवल वैज-यंती की विद्या देखकर यह विवाह-संबंध स्वीकार कर लिया था। पिता ने तो कुलीनता का अभिमान छोड़ दिया, मगर पुत्र का वह अभिमान किसी तरह नहीं गया। विवाह के समय तो उन्होंने पिता का विरोध नहीं किया, लेकिन मन-ही-मन असंतुष्ट रहे।

जब तक उनके ससुर जीते रहे, तब तक तो वैज ती बीच-बीच में जाकर ससुराल में रहती रहीं। मगर ससुर के मरने पर कृष्ण-नाथ ने यह कहकर वैजयंती को त्याग दिया कि वह वंश-मर्यादा में उनके समान नहीं हैं। स्वामी के सुख से वंचित होकर वैजयंती अपने पिता के घर में ही रहने लगीं। इस समय का सारा कष्ट वह पढ़ने-लिखने में भुलाए रहती थीं; न्याय, काव्य, अलंकार-शास्त्र आदि जो कुछ सीखने को बाक़ी था, सो सब उन्होंने इस समय सीख लिया।

कुछ दिन बाद वैजयंती ने अपने दुःख का वर्णन करके स्वामी को एक करुण पत्र लिखा। कृष्णनाथ उस पत्र की करुण कहानी पढ़कर बहुत पछताए, और अपनी स्त्री की विद्या और कवित्व-शक्ति पर मुग्ध भी हो गए। तब उनकी समझ में आ गया कि साधारण अभिमान के फेर में पड़कर उन्होंने अपनी स्त्री के साथ बड़ा ही अन्याय किया। वह फ़ौरन् आकर वैजयंती को अपने घर ले गए।

स्वामी के घर वैजयंती ने पढ़ने-लिखने का व्यसन नहीं छोड़ा। गिरिस्ती के सब काम-काज़ करने के बाद जो समय मिलता था, उसमें वह स्वामी से दर्शन-शास्त्र पढ़ती थीं। सुना जाता है, किसी

दिन कृष्णनाथ अपने छात्रों को कोई प्राचीन दर्शन-शास्त्र पढ़ा रहे थे। उस ग्रंथ में एक जगह लिखा था—'अत्र तु नोक्तम् तत्रापि नोक्तम्।' पंडित कृष्णनाथ इसका अर्थ करते थे, यहाँ भी नहीं कहा गया, और वहाँ भी नहीं कहा गया। किंतु इससे पाठ की संगति नहीं लगती थी, और इसी कारण कृष्णनाथ को भी इस अर्थ से संतोष नहीं होता था। यथार्थ निर्णय करने के लिये कृष्णनाथ सोचने लगे।

सोचते-सोचते बहुत देर हो गई। उधर वैजयंती रसोई करके चौके में बैठी स्वामी के आने की राह देख रही थीं। इसी समय एक छात्र किसी काम के लिये घर के भीतर आया। वैजयंती ने उससे उस दिन पाठ में विलंब होने का कारण पूछा। उस छात्र ने कहा—आज 'अत्र तु नोक्तं तत्रापि नोक्तम्' इस पाठ का कुछ सुसंगत अर्थ न लगने के कारण देर हो रही है। वैजयंती ने कहा—तुम जाकर गुरुजी से स्नान-आहार करके तबियत ठीक करने के लिये कहो। बाद को अर्थ लग जायगा।

कृष्णनाथ छात्र के मुख से यह सुनकर पोथी बंद करके नहाने-खाने गए। उधर वैजयंती छात्र के मुख से पाठ सुनकर उसका यथार्थ अर्थ समझ गई थीं। उन्होंने मौक़ा पाकर पुस्तक खोलकर "अत्र तु न उक्तं तत्र अपि न उक्तं" यह पदच्छेद लिख दिया। नहा-खाकर कृष्णनाथ विश्राम करने लगे। तीसरे पहर उस पाठ का अर्थ लगाने के लिये पुस्तक खोली तो देखा, उस पाठ का अर्थ स्पष्ट करने के लिये किसी ने वैसा पदच्छेद करके उसे सहज-बोध कर

रक्खा है। इस कार्य से वह बहुत ही संतुष्ट हुए। यह काम जिसने किया था, उसे पुरस्कृत करने के लिये उन्होंने छात्रों से पूछा। लेकिन छात्रों में से कोई कुछ न बता सका। तब वह अपने मन में समझ गए कि उनकी स्त्री का ही यह काम है।

वैजयंती देवी ने अनेक उद्भट श्लोक और कविता रची हैं। लेकिन इस समय उनका पता नहीं लगता। उस समय समाज में स्त्रियों के नाम से रचना प्रकाशित करने का नियम नहीं था। इसी कारण वैजयंती की रचनाओं के साथ उनका नाम प्रकट नहीं है।

कृष्णनाथ ने जो आनंदलतिका-चंपू लिखा था, उसमें उन्होंने अपनी पत्नी को उसमें सहायता करनेवाली कहकर स्वीकार किया है। उस ग्रंथ में लिखा है—

'आनंदलतिकाग्रंथो येनाकारि स्त्रिया सह।'

स्त्री का नाम प्रकट करना नीति-विरुद्ध समझकर कृष्णनाथ ने अपने ही नाम से आनंदलतिका-चंपू का प्रचार किया था। ध्यान लगाकर वह ग्रंथ पढ़ने से स्पष्ट जान पड़ता है कि कौन अंश कृष्ण-नाथ की रचना है और कौन अंश वैजयंती की।

वैजयंती देवी रचना में केवल निपुण ही नहीं, फुरतीली भी थीं। सुना जाता है, आनंदलतिका रचनेके समय एक दिन कृष्णनाथ शाम से आधी रात तक बैठे नायिका के रूप का वर्णन ही लिखते रहे। यह देखकर वैजयंती देवी ने अपने स्वामी से कहा—तुम इतनी देर से एक स्त्री के रूप का ही वर्णन लिख रहे हो! देखो, मैं एक ही श्लोक में तुम्हारी नायिका के तीन अंगों का वर्णन किये देती

हूँ। इतना कहकर उन्होंने आनंदलतिका के लिये श्लोक तुरंत बना दिया—

अहिरयं कलधौतगिरिभ्रमात्

स्तनमगात् किल नाभिहृदोत्थितः॥

इति निवेदयितुं नयने हि तत्-

श्रवणसीमनि किं समुपस्थिते॥

अर्थात्, निश्चय ही नाभिकुंड से निकला हुआ सर्प (रोमावली) सुवर्ण-पर्वत के भ्रम से स्तनों के बीच पहुँचा है, यही निवेदन करने के लिये क्या उस स्त्री के दोनों नयन कानों तक पहुँचे हैं?

कैसा मनोहर मुग्धा के अंगों का वर्णन है! खूबी यह है कि संक्षिप्त होने पर भी सार-गर्भ है।

वैजयंती देवी बँगाली जाति की विदुषियों में सर्व-श्रेष्ठ और असाधारण प्रतिभाशालिनी थीं, इसमें कुछ भी संदेह नहीं। उनका जन्म किस समय हुआ था, यह ठीक नहीं मालूम हो सका। मगर आनंदलतिका-ग्रंथ की रचना का काल देखने से अनुमान होता है कि वह १५५० शाके में पैदा हुई थीं, और आनंदलतिका ग्रंथ की रचना के समय उनकी अवस्था पचीस वर्ष की रही होगी।

४३—मानिनी देवी

उत्तर-वंग में परमप्रसिद्ध इंद्रेश्वर चूड़ामणि नाम के एक महा-महोपाध्याय पंडित थे। मानिनी देवी उन्हीं की कन्या थीं। उनके भाई धनेश्वर जिस समय विद्यारंभ के उपरांत वर्णमाला सीखते थे, उस समय वही देखकर मानिनी ने वर्णमाला सीख ली थी। उन्हें अलग वर्णमाला सिखाने की आवश्यकता नहीं हुई। उसके बाद उनके भाई जब व्याकरण पढ़ने लगे, तब मानिनी ने भी केवल सुनकर ही उसे सीखा। उस समय सायंकाल की संध्योपासना के बाद अध्यापक लोग छात्रों के पूर्व-पठित अंश की परीक्षा लिया करते थे—इसे जिज्ञासावाद कहते थे। इस जिज्ञासावाद में जो छात्र प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते थे, वे पूजा के लिये सुंदर फूल ला देने का प्रलोभन दिखाकर मानिनी से उत्तर पूछ लेते थे। इसी से मानिनी की तीव्र स्मरण-शक्ति का परिचय प्राप्त होता है।

स्मृति-तत्त्व में मानिनी देवी अच्छी तरह व्युत्पन्न थीं। २१ दिन की अवस्था के पुत्र को छोड़कर जब मानिनी पति की लाश के पास बैठी थीं, और पति के साथ सती होने की इच्छा प्रकट कर रही थीं, उस समय उनके चाचा हरिनारायण ने यह कहकर उन्हें रोका कि इतने छोटे बच्चे को छोड़कर सती होना शास्त्र में निषिद्ध है। किंतु मानिनी देवी ने यह बात नहीं मानी। उन्होंने शास्त्रीय तर्क के द्वारा समझा दिया कि इस तरह सती होना शास्त्र में निषिद्ध नहीं कहा गया है। वह हँसते-हसते जलती हुई चिता में बैठकर सती हो गईं।

उस समय मानिनी देवी ने जो शास्त्र की जानकारी दिखलाई थी, उसे देखकर उनके प्रसिद्ध विद्वान् चाचा भी दंग हो गए थे।

जिस २१ दिन के बालक को छोड़कर मानिनी सती हुई थीं, वही बालक बंगाल का सुप्रसिद्ध नैयायिक पंडित रुद्र-मंगल न्याया-लंकार हुआ। रुद्रमंगल की बराबरी का नैयायिक पंडित उस समय नवद्वीप (नदिया) में भी नहीं था।

मानिनी देवी ने संस्कृत में बहुत-सी कविता लिखी है। बहुत लोगों को उनकी कविता कंठ थी। उनके बनाए शिवस्तोत्र के दो श्लोक यहाँ नमूने के तौर पर लिखे जाते हैं—

तरणिर्धरणी सलिलं पवनो
गगनं च विरंचिनुतस्वतनोः ॥
शशलांछनभूषण चंद्रकला-
स्तनवस्तव यो यजते स च ते ॥
करुणाजलधे हरिणांकशिरो
गिरिराजसुतादयित प्रणताम् ॥
तव पादसरोरुहकिंकरिकां
भवबंधनतस्तु समुद्धर माम् ॥

परिशिष्ट

इनके अतिरिक्त सुभाषित-रत्न भांडागा में निम्नलिखित स्त्री-कवियों की भी कविता प्राप्त होती है।—(१) विकट नितम्बा, (२) फल्गु हस्तिनी; (३) राजकन्या, (४) नागमा, (५) मारुला और (६) मारिका। ये विदुषियाँ किस समय अथवा किस देश में हुईं, इसका पता कुछ नहीं चलता।

॥ इति ॥